गुरु नानक की शिक्षाएँ

डॉ. भाई जोधसिंह

1970

नेशनल पब्लिशिंग हाउस

दिल्ली

गुरु नानक फाउंडेशन पंच जन्म-शताब्दी स्मृति-ग्रन्थ

गुरु नानक

जीवनी, युग एवं शिक्षाएं

आमुख

डॉ० ज़ाकिर हुसैन

भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति

भूमिका

डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन

भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति

प्रधान सम्पादक

गुरमुख निहालसिंह

गुरु नानक फाउंडेशन, नई दिल्ली

के लिए

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

द्वारा प्रकाशित

गुरु नानक फाउंडेशन के तत्त्वावधान में संकलित एवं प्रचारित

आवरण : नारायण
प्रथम संस्करण, १९७०
मूल्य :
पुस्तकालय संस्करण : दस रुपये
पेपरबैक : चार रुपये

प्रकाशक :
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
२/३५, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-६

मुद्रक : रायसीना प्रिंटरी, दिल्ली-६

: २ :

गुरु नानक की शिक्षाएं

डा० भाई जोधसिंह

'भारतीय रिक्थ' (The Legacy of India) के प्रथम संस्करण की भूमिका में मार्क्विस ऑफ़ ज़ेतलैंड का कथन "हिन्दुओं के सर्वेश्वरवाद पर इस्लाम के एकेश्वरवाद का प्रभाव ही कालक्रमानुसार सिख-पंथ के उदय का कारण है," हमारी वर्तमान चर्चा का विषय नहीं है, और न ही भारतीय लेखकों के इस दावे पर, कि सिख-धर्म के प्रणेता गुरु नानक एक हिन्दू सुधारक थे, जिन्होंने भूसे में से कण बीनकर पुरातन हिन्दू ऋषियों की ज्योतिर्मान् शिक्षाओं को ही प्रचारित किया है, हमें कुछ कहना है। मैं यथासम्भव गुरु नानक के निजी शब्दों में ही परम-सत्य, मानवात्मा, सृष्टि-रचना, मोक्ष, कर्म-सिद्धान्त, आवागमन, मानव-जीवन का उद्देश्य तथा उसकी प्राप्ति के साधनों आदि के सम्बन्ध में उनके विचार प्रस्तुत करूँगा। गुरु नानक ने सांसारिक कर्मशीलता को त्यागने तथा जंगलों और गुफ़ाओं में जा बसने का प्रचार नहीं किया; उन्होंने समाज-सुधार के विचार भी प्रदान किए हैं, तथा तत्कालीन शासन की सबल वाणी में आलोचना भी की है। उनके कतिपय पदों में बाबर के मुग़ल दलों के द्वारा सैदपुर (वर्तमान ऐमनाबाद ज़िला गुजरांवाला) में स्वदेश-वासियों की लूट और हत्या के दृश्यों की साक्षी में उपजी राष्ट्रीय भावनाओं तथा तीव्र-व्यथा का अति-संवेदनशील तथा ओजस्वी चित्रण हुआ है। वे ऐसे एकान्त-चेता नहीं थे, जिनका लक्ष्य केवल निजी मोक्ष ही होता है। वे तो जन-सामान्य से यथार्थ आध्यात्मिक जीवन जीने की आकांक्षा रखते थे तथा उन्हें एक ऐसे सामाजिक-प्रतिमान पर एकाग्र कर लेना चाहते थे, जिससे दूसरों की विचारधाराओं के प्रति सहिष्णुता तथा मानव-मात्र के कल्याण की कामना को जागृत किया जा सके।

१. ईश्वर-तत्त्व

सिखों की धर्म-पुस्तक, पवित्र गुरु ग्रंथ, गुरु नानक देव की प्रसिद्ध रचना 'जपुजी' से आरम्भ होती है; प्रत्येक सिख के लिए प्रतिदिन प्रातःकाल उसके पाठ का विधान है। 'जपुजी' के आरम्भ में मूल-मंत्र है, जोकि सिख-पंथ का मूल मंतव्य है। उसका भावार्थ इस प्रकार है:

'ईश्वर मात्र एक है; उसका नाम सत्'[1] है; वह सर्व-व्यापक रचयिता है, निर्भय है, निर्वैर है, उसका अस्तित्व काल से अप्रभावित है, वह कभी जन्म नहीं लेता, स्वम्भू है; (और उसकी उपलब्धि) गुरु की कृपा से सम्भव है" ।[2] संख्या '१' इस मूल-मन्त्र का प्रथमाक्षर है। समय व्यतीत होने के साथ शब्द तो अपना अर्थ बदल सकते हैं, किन्तु संख्या के स्वगुणार्थ सदैव निश्चित बने रहते हैं। अतः इस प्रकार समारम्भ में ही ईश्वर के ऐक्य पर बल डाला गया है, ताकि अनुयायियों को हिन्दू सर्वेश्वर-धारा के असंख्य देवी-देवताओं से मुक्त रखा जा सके। अपने अनेक पदों में गुरुजी ने इस ऐक्य को बड़ी मार्मिक शब्दावली में चित्रित किया है। "सब कहते हैं कि वह एक है, किन्तु फिर भी 'मैं', 'मेरा' के अभिमान से भरे हुए हैं। केवल वे ही जीव उसके दैवी सदन तथा परम-धाम तक पहुँचते हैं, जो भीतर (अपनी आत्मा में) तथा बाहर उसी का दर्शन करते हैं। ईश्वर निकटतर है, उसे दूर मत जानो; वह तो समूची सृष्टि में व्याप्त है। नानक कहते हैं कि जो जीव एक ईश्वर को पहचानता तथा द्वैत का त्याग करता है, वह उसी में लीन हो जाता है।"[3]

"मार्ग एक ही है; जल, वायु एवं अग्नि में एक ही सत्य और सुन्दर प्रकाशित है। एक ही भंवरा ब्रह्मांड में भ्रमता है। इस ऐक्य का समझने वाला ही सम्माननीय है, किन्तु मात्र कुछ गुरमुख (ईश्वराभिमुख) जीव ही इसे पहचानते हैं। वे अपने ज्ञान तथा साधना का उपयोग इसी साम्यावस्था हेतु करते हैं। जिसे कृपापूर्वक इसकी प्राप्ति हुई है, वह आनन्दित होता है। उसके (ईश्वर के) प्राप्त्यर्थ मार्ग की उपलब्धि गुरु के द्वारा होती है।"

"समूचा दृश्य जगत तुम्हारा शरीर है, हम जो कुछ सुनते हैं, तुम्हारी ही वाणी है। तुम स्वयं सबमें व्याप्त हो और सबका आनन्द भी लेते हो। ऐ माँ! मैं किसी दूसरे की बात ही कैसे कर सकता हूँ? मेरा स्वामी एक है, ऐ माँ! वह एक ही है। वह स्वयं रक्षक और विनाशक है। वही (जीवन) देता है, और लौटाता भी है। वह हमारी देख-भाल करता तथा चतुर्दिक् खिलता है। वह स्वेच्छा से कृपा-वर्षण करता है। वह यथेच्छा सब कुछ करता है, उसकी

---

१. सत् (सं. सत्यम्) वह तत्व है. जो था, है तथा सदा रहेगा।

२. १ ओंकार सतिनामु करता-पुरखु निरभउ निरवैरू
अकाल मूरति अजूनी सैभं गुर प्रसादि।

३. एको एक कहै सभु कोई हउमै गरबु विआपै।
अंतरि बाहरि एकु पछाणै इउ घरू महलु सिञापै।
प्रभु नेड़ै हरि दूर न जाणहु एको सिसटि सबाई।
एकंकारू अवरू नहीं दूजा नानक एकु समाई। ५. आअंकार, रामकली म० १. आ० ग्रं० पृ० ६३०।

इच्छा के विरुद्ध कुछ नहीं हो सकता। तुम हम पर जैसा प्रकट करते हो, हम वैसी ही व्याख्या करते हैं। यह सब तुम्हारी महनीयता है।"[१]

"वह चिर-स्थायी सत्य है। वह जीवनोदय से भी पूर्व विद्यमान था, अब भी है तथा सदैव रहेगा भी।"[२] ईश्वर अगोचर, अगाध, सर्व-शक्तिमान स्रष्टा तथा दयालु है। समूचा संसार आवागमन का शिकार है, परन्तु वह करुणाशील चिर-स्थिरता लिये हुए है। स्थायित्व उसका मूल अधिकार है, क्योंकि वह किसी नियति द्वारा शासित नहीं। धरती और आकाश, सब नश्वर हैं; मात्र एक ईश्वर ही अपरिवर्तनीय रहता है। सूर्य दिन में चलता है, चन्द्र रात्रि में घूमता है तथा कोटि-कोटि ग्रह अपने कक्ष में घूमते रहते हैं। नानक का यह दावा कि एकमात्र ईश्वर ही अटल है, पूर्ण सत्य है।[३] "सौर मण्डल अथवा चन्द्र मण्डल नहीं रहेंगे, सातों महाद्वीप नष्ट हो जायेंगे, जल तथा पवन भी नहीं बचेंगे, किन्तु तुम अकेले (चिर-स्थायी हो), तुम अकेले।"[४]

वह स्रष्टा है, इस सम्बन्ध में गुरु नानक हिन्दू चिन्तन के छः शास्त्रों से मतभेद रखते हैं। योग-शास्त्र का दावा है कि ईश्वर, आत्मा तथा प्रकृति सम-सामयिक हैं। सांख्य शास्त्र ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करता है; उसकी मान्यता है कि प्रकृति सृष्टि का निर्माण करती है, पुरुष (आत्मा) केवल साक्षी (द्रष्टा) है। न्याय तथा वैशेषिक शास्त्र ईश्वर को "संसार का प्रथम कर्त्ता-कारण (Efficient cause) मानते हैं, इसका भौतिक-कारण नहीं मानते, अर्थात् वे ईश्वर को विहित विश्व का वास्तुकार अथवा विश्वकर्मा समझते हैं। यद्यपि संसार को उसका शरीर कहा जाता है, वह संसार में ही सीमित नहीं है। वह विश्व का नियंता भी है, हमारे कर्मों के फल का निष्पक्ष वितरक तथा हमारे हर्षविसादों का परम निर्णायक है।"[५]

पूर्व-मीमांसा के लेखक जेमिनी ईश्वर को कर्म-फल का वितरक नहीं मानते। उनके मतानुसार स्वयं 'अपूर्व'—कर्म की सूक्ष्म अन्त:शक्ति—फलोत्पादन सम्पन्न करता है। पुन: "पूर्व-मीमांसा की मान्यता है कि इस विश्व का आदि-अन्त कोई नहीं, यह वर्तमान में जैसा है, ऐसा ही अतीत में था और भविष्य में भी रहेगा। संसार का कभी निर्माण नहीं हुआ, न ही इसका कभी पूर्ण विलयन अथवा विघटन होता है। अत: ईश्वर को विश्व-अस्तित्व का कारण स्वीकार नहीं किया जा सकता।"[६]

---

१. गउड़ी अष्ट, ३ : ५।
२. जपुजी ५ : १।
३. गउड़ी अष्ट, ८ : १७।
४. वार माझ ५.५, पृ० १३।
५. हिस्ट्री आफ फिलासफी ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न, प्रथम संस्करण, पृ० २२८।
६. वही, पृ० २६७।

उत्तर-मीमांसा की शांकर व्याख्यानुसार "पर-ब्रह्म को जब संसार का निर्माता और नियंता मान लिया जाता है, तो वह सगुण ब्रह्म अथवा वैयक्तिक ईश्वर कहलाता है। ब्रह्म के दोनों रूप (निर्गुण और सगुण) मान्य हैं। सगुण ब्रह्म अथवा ईश्वर चिदात्मा है, समूची विषयगत सामग्री का योग है।"[१] जीवों तथा सृष्टि के सृजन की व्याख्या के लिए शंकर ने 'माया' नामक सत्ता को स्वीकार किया है तथा उसे सत्-असत् और अनिवारणीय कहा है।

दूसरी ओर, गुरु नानक कहते हैं, "तू धन्य है, जिससे माया, संसार और ब्रह्मा का स्रवण हो रहा है, तथा समस्त प्रशंसनीय परम तत्त्वों का उदय हुआ है और हृदय में चिरानन्द की ज्योति फैल गई है।"[२] "तुम अगम्य सर्जक पुरुष हो। तुम्हीं ने अनेक वर्णावर्ण तथा भाँति-भाँति की सृष्टि की रचना की है। तुम्हीं जानते हो कि वह सब कैसा बना, क्योंकि वह सब तुम्हारा ही 'खेल' है।"[३] "स्वयं प्रभु ने ललित तत्त्वों का निर्माण किया है तथा सत्य के शरीर को अलंकृत किया है।"[४]

"तुमने ब्रह्मा, विष्णु, शिव एवं अन्य देवी-देवताओं का सृजन किया है। तुम्हारे चेतन अंश द्वारा निर्मित वस्तुएँ अपरिमित हैं। इस सबका यथार्थ मूल्यांकन तो स्वयं कर्त्ता ही कर सकता है।"[५] गुरु नानक के सिद्धान्तानुसार ईश्वर सबका मूलभूत कारण है। वास्तव में स्रष्टा ही समस्त कारणों का नियंता है, वही अपनी शक्ति द्वारा सृष्टि को सम्बल दिए हुए है।"[६]

वह निर्भय तथा शत्रुता-रहित है। स्रष्टा अपनी सृष्टि से क्योंकर डर सकता है? सब वस्तुएँ उसी के निर्देश पर चालित तथा कार्य-रत होती हैं। "उसी के भय से समीर चलता तथा हवाएँ बहती हैं। शत-सहस्र नदियां उसके भय से स्रवित होती हैं, धरती उसके भय से बोझ ढोती है, बादल भी जल का भार लिये उसी के भय से उड़ा फिरता है। सूर्य तथा चन्द्र उसी के भय से लाखों मील के अनन्त-पथ पर दौड़े चले जा रहे हैं। सिद्ध, बुद्ध तथा देवराज इन्द्र भी उसी के भय में रहते हैं। अधर का आकाश भी उसी के भय से स्थित है, शक्तिशाली तथा सबल योद्धा भी उससे डरते हैं। जीव-समूहों का संसार में आना-जाना उसी के भय के कारण होता है—सबके मस्तक पर उसके भय के

---

१. वही, पृ० २७६।

२. सुअसति आथि वाणी बरमाउ। सति सुहाणु सदा मनि चाउ। पउड़ी २१, जपुजी।

३. तूं करता पुरखु अंगमु है आपि स्रिसटि उपाती। रंग परंग उपारजना बहु बहु बिधि भाती।
तूं जाणहि जिनि उपाई ऐ सभु खेलु तुमाती। वार माझ, पउड़ी १।

४. पंच भू नाइको आपि सिरंदा जिनि सचु का पिंडु सवारिआ। सूही छंत ३.२.५।

५. राग बिलावल थित्ती ४।

६. श्लोक सहसकृति २।

उसकी दीप्ति विद्यमान है। वह सर्व-पोषक और प्रकाशक तीनों लोकों में व्याप्त है। वह अपने को प्रकृति के माध्यम से व्यक्त करता है; जिस पर वह कृपा करता है, उसका उद्धार हो जाता है। 'शबद' द्वारा वह उसको निर्मल बनाता एवं निरन्तर उसपर कृपा-वर्षन करता है। (कृपा-पात्र) जीव उस परम के रहस्यों को जानता तथा उसके स्रष्टा और अनुकूल उपास्य होने का ज्ञान रखता है।"[१]

२. सृष्टि-रचना

सृष्टि-निर्माण की व्याख्या हेतु कतिपय भारतीय विचारकों ने प्रकृति अथवा माया की कल्पना कर ली है। गुरु जी ऐसा कोई अनुमान स्वीकार नहीं करते। "उसकी आज्ञा (हुक्म)[२] से ही समस्त रूप-आकार अस्तित्व में आते हैं, किन्तु हुक्म अनिर्वचनीय है। संसार में जीवों का आगमन उसी की आज्ञा से होता है और उसी से उनमें उत्कृष्टता जागृत होती है।"[३] गुरुजी के मतानुसार वर्तमान विश्व के विकास से पूर्व यहाँ अपरिमित शून्य था। "असंख्य युगों तक वहाँ पूर्ण अंधकार था। स्वयं परम नियंता के अतिरिक्त कोई स्वर्ग या नरक नहीं था। न सूर्य था, न चन्द्र; रात और दिन भी न थे...अपनी प्रसन्नता से उसने विश्व की रचना की और बिना किसी सम्बल के उसने गगन को अधर में स्थिर कर दिया। उसने ब्रह्मा, विष्णु और शिव की सृष्टि की तथा सांसारिक संभ्रान्तियों के प्रति मोह जागृत किया (माइआ मोहु वधाइदा)। कोई विरल जीव ही गुरु-शब्द श्रवण करता तथा इस तथ्य का ज्ञान प्राप्त करता है कि समूचे विश्व का निर्माण तथा पोषण उसके हुक्म पर ही आश्रित है।"[४]

गुरु मतानुसार, वह ऐसा कैसे हो सका, यह हमारी बुद्धि से परे का विषय है। "सृष्टि का सर्जक स्वयं ही इसके 'क्यों और कैसे' को जानता है, कोई अन्य इसकी व्याख्या नहीं कर सकता।"[५] "केवल तुम ही जानते हो कि तुमने इसका (विश्व का) प्रवर्त्तन कैसे किया, यह सब तुम्हारा ही खेल है।"[६] यह विश्व कब बना, यह भी ज्ञातव्य नहीं?

"संसार किस युग में अस्तित्व में आया, वह कौन-सा समय था, चन्द्र अथवा सूर्य पक्ष में कौन-सा दिन था, कौन-सी ऋतु या महीना था; पण्डित लोग उस युग से अभिज्ञ नहीं, अन्यथा पुराणों में इसका वर्णन हुआ होता! काज़ी भी

---

१. रामकली दक्खणी, ओअंकार ८।

२. 'हुकम' फारसी शब्द है, जिसके अनेक अर्थ निर्दिष्ट हैं—स्वेच्छा, विधान, नियम, आज्ञा आदि।

३. 'हुकमी' होवनि आकार हुकमुन कहिआ जाई। हुकमी होवनि जीअ हुकमि मिलै वडिआई। पउड़ी २, जपुजी।

४. मारू सोलहे १६.३,१५।

५. वडहंस अलाहणिया १:४।

६. वार माझ पउड़ी १।

इससे अपरिचित हैं, अन्यथा कुर्आन में इसका उद्धरण मिल जाता। योगी भी चन्द्र अथवा सूर्य-पक्षी दिन का ज्ञान नहीं रखते। किसी को भी ऋतु या महीना ज्ञात नहीं। केवल रचयिता ही, जिसने विश्व की रचना की है, ये सब बातें जानता है।"[1]

उसके सृजन की सीमाएँ भी अज्ञात हैं। "आकाश पर लाखों आकाश, तथा पाताल से परे लाखों पाताल हैं; वेद भी अन्ततः इसकी गहनता को जानने में असमर्थ रहे हैं, कुर्आन आदि सभी पुस्तकें, जो अठारह हज़ार लोकों की चर्चा करती हैं, दावा करती हैं कि 'यदि सम्भव हुआ तो हम मूल सत्य द्वारा प्रवर्तित प्रत्येक वस्तु का विवरण देंगे', किन्तु विवरण लिखते-लिखते ही जीवन की लघु कालावधि समाप्त हो जाती है।"[2]

यह संसार स्वप्न अथवा मरीचिका नहीं। "तुम्हारी सब विधियाँ-पद्धतियाँ सत्य हैं, तुम्हारे बनाए लोक भी सत्य हैं। तुम्हारे विभिन्न विश्व तथा निर्मित विषय सत्य हैं। तुम्हारे कार्य एवं प्रत्यय सत्य हैं...ऐ चिर-सत्य सम्राट् तुम्हारी प्रकृति ही सत्य है।"[3] परन्तु कभी-कभी 'गुरु ग्रंथ' में हमें ऐसे पद भी मिल जाते हैं, जिनमें विश्व को 'धूम-पर्वत' तथा 'स्वप्न' कहा गया है। हाँ, किन्तु ऐसे कथनों का अर्थ यह है कि हमारा दृश्य जगत परिवर्तन-शील है; यह चिर-स्थायी नहीं, जैसाकि हम इसे समझते हैं। संसार यथार्थ है, किन्तु निरन्तर परिवर्तित हो रहा है। विगलन तथा मृत्यु इसमें अन्तर्निहित हैं। उस दृष्टि से यह एक चलता हुआ दृश्य है।

एक पद में गुरु नानक ने सृजन की प्रक्रिया का चित्रण किया है। "परम-सत्य में से पवन और पवन से जल की उत्पत्ति हुई। जल से तीनों लोकों का निर्माण किया गया। घर-घर में उसकी ज्योति व्याप्त है, किन्तु इस सम्पर्क के कारण विशुद्धता अशुद्धता को आत्मसात् नहीं करती। 'शबद' में आसक्ति द्वारा ही जीव सम्मान पाता है।"[4]

यह सृष्टि क्यों रची गई, इस प्रश्न के अनेक उत्तर सुझाए गए हैं। कपिल मुनि का कथन है कि प्रकृति इसलिए यह सब काण्ड रचती है ताकि पुरुष अपनी यथार्थ सत्ता को पहचान ले, और आवागमन-चक्र में निबद्ध करने वाले अज्ञानान्धकार को छिन्न कर कैवल्य स्थिति को प्राप्त कर सके।

गुरु नानक इस धरती को 'धरमसाल' कहकर पुकारते हैं, अर्थात् एक ऐसी पाठशाला जहाँ धर्म की शिक्षा उपलब्ध होती है। 'सिद्ध गोष्ठी' में वे कहते हैं, "गुरमुखों (ईश्वर-प्रेमियों) की उत्क्रान्ति के लिए ही परम सत्य ने धरती रची,

---

१. जपुजी पउड़ी २३।
२. जपुजी पउड़ी २२।
३. वार आसा श्लोक १, पउड़ी २।
४. सिरी राग ३ : १५।

उसकी दीप्ति विद्यमान है। वह सर्व-पोषक और प्रकाशक तीनों लोकों में व्याप्त है। वह अपने को प्रकृति के माध्यम से व्यक्त करता है; जिस पर वह कृपा करता है, उसका उद्धार हो जाता है। 'शबद' द्वारा वह उसको निर्मल बनाता एवं निरन्तर उसपर कृपा-वर्षन करता है। (कृपा-पात्र) जीव उस परम के रहस्यों को जानता तथा उसके स्रष्टा और अनुकूल उपास्य होने का ज्ञान रखता है।"[१]

२. सृष्टि-रचना

सृष्टि-निर्माण की व्याख्या हेतु कतिपय भारतीय विचारकों ने प्रकृति अथवा माया की कल्पना कर ली है। गुरु जी ऐसा कोई अनुमान स्वीकार नहीं करते। "उसकी आज्ञा (हुक्म)[२] से ही समस्त रूप-आकार अस्तित्व में आते हैं, किन्तु हुक्म अनिर्वचनीय है। संसार में जीवों का आगमन उसी की आज्ञा से होता है और उसी से उनमें उत्कृष्टता जागृत होती है।"[३] गुरुजी के मतानुसार वर्तमान विश्व के विकास से पूर्व यहाँ अपरिमित शून्य था। "असंख्य युगों तक वहाँ पूर्ण अंधकार था। स्वयं परम नियंता के अतिरिक्त कोई स्वर्ग या नरक नहीं था। न सूर्य था, न चन्द्र; रात और दिन भी न थे...अपनी प्रसन्नता से उसने विश्व की रचना की और बिना किसी सम्बल के उसने गगन को अधर में स्थिर कर दिया। उसने ब्रह्मा, विष्णु और शिव की सृष्टि की तथा सांसारिक संभ्रान्तियों के प्रति मोह जागृत किया (माइआ मोहु वधाइदा)। कोई विरल जीव ही गुरु-शब्द श्रवण करता तथा इस तथ्य का ज्ञान प्राप्त करता है कि समूचे विश्व का निर्माण तथा पोषण उसके हुक्म पर ही आश्रित है।"[४]

गुरु मतानुसार, वह ऐसा कैसे हो सका, यह हमारी बुद्धि से परे का विषय है। "सृष्टि का सर्जक स्वयं ही इसके 'क्यों और कैसे' को जानता है, कोई अन्य इसकी व्याख्या नहीं कर सकता।"[५] "केवल तुम ही जानते हो कि तुमने इसका (विश्व का) प्रवर्त्तन कैसे किया, यह सब तुम्हारा ही खेल है।"[६] यह विश्व कब बना, यह भी ज्ञातव्य नहीं ?

"संसार किस युग में अस्तित्व में आया, वह कौन-सा समय था, चन्द्र अथवा सूर्य पक्ष में कौन-सा दिन था, कौन-सी ऋतु या महीना था; पण्डित लोग उस युग से अभिज्ञ नहीं, अन्यथा पुराणों में इसका वर्णन हुआ होता ! काज़ी भी

---

१. रामकली दक्खणी, ओअंकार ८।

२. 'हुकम' फारसी शब्द है, जिसके अनेक अर्थ निर्दिष्ट हैं—स्वेच्छा, विधान, नियम, आज्ञा आदि।

३. 'हुकमी' होवनि आकार हुकमु न कहिआ जाई। हुकमी होवनि जीअ हुकमि मिलै वडिआई। पउड़ी २, जपुजी।

४. मारू सोलहे १६.३,१५।

५. वडहंस अलाहणिया १:४।

६. वार माझ पउड़ी १।

इससे अपरिचित हैं, अन्यथा कुर्‌आन में इसका उद्धरण मिल जाता। योगी भी चन्द्र अथवा सूर्य-पक्षी दिन का ज्ञान नहीं रखते। किसी को भी ऋतु या महीना ज्ञात नहीं। केवल रचयिता ही, जिसने विश्व की रचना की है, ये सब बातें जानता है।"[1]

उसके सृजन की सीमाएँ भी अज्ञात हैं। "आकाश पर लाखों आकाश, तथा पाताल से परे लाखों पाताल हैं; वेद भी अन्ततः इसकी गहनता को जानने में असमर्थ रहे हैं, कुर्‌आन आदि सभी पुस्तकें, जो अठारह हज़ार लोकों की चर्चा करती हैं, दावा करती हैं कि 'यदि सम्भव हुआ तो हम मूल सत्य द्वारा प्रवर्त्तित प्रत्येक वस्तु का विवरण देंगे', किन्तु विवरण लिखते-लिखते ही जीवन की लघु कालावधि समाप्त हो जाती है।"[2]

यह संसार स्वप्न अथवा मरीचिका नहीं। "तुम्हारी सब विधियाँ-पद्धतियाँ सत्य हैं, तुम्हारे बनाए लोक भी सत्य हैं। तुम्हारे विभिन्न विश्व तथा निर्मित विषय सत्य हैं। तुम्हारे कार्य एवं प्रत्यय सत्य हैं...ऐ चिर-सत्य सम्राट् तुम्हारी प्रकृति ही सत्य है।"[3] परन्तु कभी-कभी 'गुरु ग्रंथ' में हमें ऐसे पद भी मिल जाते हैं, जिनमें विश्व को 'धूम-पर्वत' तथा 'स्वप्न' कहा गया है। हाँ, किन्तु ऐसे कथनों का अर्थ यह है कि हमारा दृश्य जगत परिवर्तन-शील है; यह चिर-स्थायी नहीं, जैसाकि हम इसे समझते हैं। संसार यथार्थ है, किन्तु निरन्तर परिवर्तित हो रहा है। विगलन तथा मृत्यु इसमें अन्तर्निहित हैं। उस दृष्टि से यह एक चलता हुआ दृश्य है।

एक पद में गुरु नानक ने सृजन की प्रक्रिया का चित्रण किया है। "परम-सत्य में से पवन और पवन से जल की उत्पत्ति हुई। जल से तीनों लोकों का निर्माण किया गया। घर-घर में उसकी ज्योति व्याप्त है, किन्तु इस सम्पर्क के कारण विशुद्धता अशुद्धता को आत्मसात् नहीं करती। 'शबद' में आसक्ति द्वारा ही जीव सम्मान पाता है।"[4]

यह सृष्टि क्यों रची गई, इस प्रश्न के अनेक उत्तर सुझाए गए हैं। कपिल मुनि का कथन है कि प्रकृति इसलिए यह सब काण्ड रचती है ताकि पुरुष अपनी यथार्थ सत्ता को पहचान ले, और आवागमन-चक्र में निबद्ध करने वाले अज्ञानान्धकार को छिन्न कर कैवल्य स्थिति को प्राप्त कर सके।

गुरु नानक इस धरती को 'धरमसाल' कहकर पुकारते हैं, अर्थात् एक ऐसी पाठशाला जहाँ धर्म की शिक्षा उपलब्ध होती है। 'सिद्ध गोष्ठी' में वे कहते हैं, "गुरमुखों (ईश्वर-प्रेमियों) की उत्क्रान्ति के लिए ही परम सत्य ने धरती रची,

---

१. जपुजी पउड़ी २३।
२. जपुजी पउड़ी २२।
३. वार आसा श्लोक १, पउड़ी २।
४. सिरी राग ३ : १५।

जन्म और मृत्यु तो उसके खेल हैं।"[१] एक अन्य पद में भी उन्होंने यही विचार अभिव्यक्त किया है। साधु-सन्तों के लिए ही ईश्वर विश्व को सुरक्षित रखे हुए है। वे (साधु-सन्त) अपने को पहचानते तथा सत्य का चिन्तन करते हैं। ईश्वरीय सत्य और प्रेम उनके पावन हृदय में निवसित हैं। नानक कहते हैं कि वे ऐसे (साधु-सन्त) के दास हैं।"[२] वे इस विश्व को 'संघर्ष-क्षेत्र' के सदृश भी मानते हैं। "उसने स्वयं इस संघर्ष-क्षेत्र का निर्माण किया है। पाँच विकारों[३] ने खूब ढोल-धमाके के साथ इसमें प्रवेश किया है। गुरुमुख (उन्हें दलित कर) आनन्द मनाते हैं। परन्तु मूर्ख, गँवार मनमुख उनके सम्मुख पराजित हो जाते हैं।"[४] अस्तु:, आत्मा का विकास ही सृष्टि का उद्देश्य बताया गया है।

३. मानवात्मा और इसका स्वरूप

संसार के लगभग सभी धर्म आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। तथापि आत्मा के स्वरूप सम्बन्धी प्रश्न पर वे अपने-अपने विश्वासानुसार दो वर्गों में बँट सकते हैं। एक वर्ग का विश्वास है कि ईश्वर ने विभिन्न स्वभावों की आत्माओं की रचना की, तथा वे ईश्वरीय अनुज्ञा से मिट्टी से सर्जित शरीरों में प्रवेश कर गईं। जन्म से मृत्यु तक आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं आता। आत्माओं के पथ-प्रदर्शन के लिए ईश्वर ने अपने दूतों एवं पैगम्बरों के माध्यम से आदेश भी प्रस्तुत किए हैं। प्रदत्त आदेशों की परिभाषानुसार उत्तम कार्य करने वाले जीवों को, शरीर के विसर्जन हो जाने पर, स्वर्ग अथवा बहिश्त प्राप्त होगा, जहाँ वे विभिन्न प्रकार का आनन्दास्वादन करेंगे। निकृष्ट कर्म करने वाले लोगों की आत्माओं को पाताल अथवा कुएँ में फेंक दिया जायगा; वहाँ उन्हें कष्टकर दण्ड भोगना होगा। इस प्रकार का विश्वास रखने वाले धर्मों में प्रायः स्वर्ग की व्याख्या एक ऐसे स्थान के रूप में की गई है, जहाँ उत्तम कृत्य करने वाले जीव दीर्घवर्षीय आनन्द का लाभ पाते हैं, और कुआँ एक ऐसा स्थान है, जहाँ बुरी आत्माएँ नित्य उत्पीड़न सहन करती हैं।

दूसरे वर्ग में लगभग वे सब धर्म आते हैं, जिनका उदय भारतवर्ष की धरती पर हुआ है। इस वर्ग के मतानुसार समस्त आत्माएँ सार रूप में समान हैं, विभिन्न सम्पर्कों में वे अलग-अलग स्वभाव का विकास करती हैं। मनुष्य जिस विन्दु पर विचार करता है, जिस भी शब्द का उच्चारण करता है या जो भी कार्य करता है, वे सब उसके मन पर प्रतिविम्ब वनाते हैं। जब ये विचार, शब्द तथा कार्य पुनः-पुनः आवृत्त होते हैं, प्रतिविम्ब गहरा जाते तथा अन्ततो-

---

१. रामकली सि० गो० ३०।
२. गउड़ी अष्ट, ६ : ८।
३. काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार।
४. वार मलार, पउड़ी ४।

गत्वा स्वभाव में परिवर्तित हो जाते हैं। इन स्वभावों से प्रकृति निर्मित होती है तथा उसका मानसिक धरातल उन विचारों, शब्दों और कृत्यों के परिणाम स्वरूप दिन-प्रति-दिन परिवर्तित होता चलता है। जब बाह्य वातावरण की तरंगें हमारे मानसिक संयन्त्र से टकराती हैं, तो परिणामतः उदित होने वाली प्रतिक्रिया ही पीड़ा और आनन्द का कारण बनती है। इसे एक उदाहरण द्वारा चित्रित किया जा सकता है। मैं दूर से एक व्यक्ति को आते देखता हूं। जब तक मैं उसे पहचान नहीं लेता, मेरा मन निर्विकार रहता है। किन्तु जब वह निकट आ जाता है और मैं उसे मित्र अथवा शत्रु रूप में पहचान लेता हूं, तो उसके प्रति मेरे मन में क्रमशः प्रसन्नता या घृणा उत्पन्न होने लगती है। यदि कोई व्यक्ति बाहरी छायाओं से उदित मानसिक प्रतिक्रियाओं को नियंत्रित कर सकता, अथवा दूसरे शब्दों में, मन को संयमित कर सकता हो, तो उसके जीवन से दुःख एवं अवसाद का अन्त होता है, क्योंकि घृणा, क्रोध एवं द्वेष की धारणाओं से ही दुःख पनपता है। असन्तुष्ट वाञ्छाएँ भी अवसाद का कारण बनती हैं। जब इन तथा अन्य सम्बद्ध प्रदोषों को मन से विसर्जित कर दिया जाता है, आत्मा इन त्रुटियों से मुक्त हो जाती है तो परिणामतः शान्त और उल्लसित जीवन उपलब्ध होता है। अतः, इस वर्ग के विचारक यह नहीं सिखाते कि कोई बाह्य माध्यम अथवा यमदूत मानवात्मा को स्वर्ग या नरक में ले जायेंगे। उनका आग्रह है कि स्वर्ग या नरक आत्मा की मानसिक स्थितियाँ मात्र हैं, और मनुष्य को स्वर्गादि के लिए मृत्यु तक प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं। वह जीवन्मुक्ति अर्थात् इस संसार में रहते-रहते ही मुक्ति लाभ कर सकता है।

गुरु नानक ने जपुजी में अध्यात्म-विकास के विभिन्न खण्डों—धर्म-खण्ड, ज्ञान-खण्ड, सरम (श्रम)-खण्ड, करम-खण्ड तथा सच-खण्ड—की व्याख्या करते हुए ठीक यही बात कही है। शरीरांत के साथ आत्मा का अस्तित्व नष्ट नहीं हो जाता। "आत्मा मरती नहीं, न ही तैरती या डूबती है। अपने अतीत के संस्कारों से प्रभावित वह निजी सामर्थ्यानुसार कर्म करती तथा ईश्वरेच्छा से (संसार में) आती और जाती है। यहाँ जगत में तथा इसके उपरांत जगतेतर स्थितियों में उसकी इच्छा ही सर्वोपरि है।"[१]

पवन, जल, अग्नि, पृथ्वी और आकाश आदि पंच-तत्त्वों के संगम से शरीर निर्मित होता है, और यह स्थिर एवं अस्थिर बुद्धि की क्रीड़ा-स्थली होता है। इसके नौ (बाहरी) द्वार हैं,[२] दशम द्वार (आन्तरिक)[३] है, ज्ञानवादी भली-भान्ति

---

१. गउड़ी २ : २।

२. दो कान, दो आंखें, दो नासिका-छिद्र, मुँह तथा नीचे के दोनों मल-विसर्जक अंग—ये नौ द्वार हैं।

३. अन्तर्बोध का।

इस रहस्य को जानता है। आत्म-चिन्तन करने वाला जीव ज्ञानी बनता है, तथा जान लेता है कि आत्मा ही बोलती, व्याख्यायित करती तथा सुनती है। शरीर तो मृत्तिका है, पवन स्वर का कारण बनता है। तो बताओ, ऐ ज्ञानी, मरता क्या है ? वास्तव में बुद्धि, अहंकार तथा 'हउमै' मरते हैं, द्रष्टा कभी नहीं मरता।"[१]

बाईबल में कहा गया है कि ईश्वर ने मनुष्य की सृष्टि अपने ही प्रतिरूप में की है। यह कथन शरीर के लिए, जो कि मृत्तिका है, न होकर आत्मा के लिए है, जिसमें प्रभु की ज्योति विद्यमान है। "समस्त आत्माएँ ज्योतिर्मान हैं, और वह ज्योति ही ब्रह्म है। उसी की दीप्ति से सबको प्रकाश मिलता है।"[२] "वह सर्वव्यापक आत्मा में विद्यमान है, और आत्मा उसमें निहित है। इस बात का ज्ञान गुरु के आदेशों का पालन करने से ही सम्भव है। गुरु की अमृतमयी शिक्षाओं का परिचय मैंने 'शबद' के माध्यम से प्राप्त किया है। मेरे दुःखों का अन्त हो गया तथा 'हउमै'-नाश हुआ। नानक कहते हैं कि 'हउमै' विकट रोग है। यह व्याधि सबमें व्याप्त है। ईश्वर स्वयं गुरु-'शबद' के माध्यम से इसका उपचार करता है।"[३]

"वह आत्माओं की आत्मा है। वह घट-घट वासी है। गुरु-कृपा से हृदय ज्योतित होता, तथा जीव सहज में ही शान्ति लाभ करता है।"[४]

उपरि-उद्धरित कतिपय पदों में एक प्रकार से मानव-जीवन का उद्देश्य इंगित है। 'हउमै' के दीर्घ रोग से पीड़ित आत्मा को स्वस्थ बनाना ही व्यक्ति का लक्ष्य है। 'हउमै' द्वारा प्रेरित व्यक्ति स्वार्थोन्मुख होता है; ऐसी क्रियाएँ वैयक्तिकता का पोषण करती तथा उसे सुदृढ़तर बनाती हैं। वैयक्तिकता मनुष्य में ममत्व-भावना अर्थात् सांसारिक पदार्थों पर अधिकार की सबल कामना सजग करती हैं; मनुष्य सोचता है कि इससे जीवन प्रसन्न होगा। अधिकार के लिए संघर्ष करते हुए, उसमें वासना, मोह, क्रोध और लोभ आदि उत्पन्न होते हैं और कालक्रमानुसार ये दुर्गुण दृढ़ बंधन बन जाते हैं। पीड़ा और अवसाद उसके अपने कर्मों का परिणाम है। "दूसरों को दोषी मत कहो, दोषी तो तुम्हारे कर्म हैं। हम अपने ही कर्मों का फल बीनते हैं, इसलिए दूसरों पर दोष मत लगाओ।"[५] "हमारे कर्मानुसार ही आदेश-पत्र तैयार होता है। कोई नियमविधान इसे बदल नहीं सकता। हम इसे यथोल्लिखित रूप में ही पढ़ते हैं, इसमें विक्षेप नहीं जोड़े जा सकते।"[६] "अपनी शक्ति द्वारा विश्व को सम्बल देने तथा प्रत्येक वस्तु को

---

१. गउड़ी ४ : ४।
२. धनासरी कीर्तन सोहिला ३ : ३।
३. भैरउ अष्ट ४। ४।
४. मलार अष्ट ७ : १।
५. आसा पट्टी २०।
६. आसा ४ : २ : ३६।

सार्थक करने वाली सत्ता ही मनुष्यों के लिए उनकी सामर्थ्यानुसार प्रदेय प्रस्तुत करती है, किन्तु इस देन का निर्णय व्यक्ति के कर्मों पर होता है ।"[१]

राग मारू के अन्तर्गत एक पद में गुरु नानक ने हमारे कर्मों द्वारा उत्पन्न होने वाली पीड़ा का सुन्दर रूपकात्मक चित्र प्रस्तुत किया है । "मन कागज़ है, कर्म स्याही है, तथा अच्छे और बुरे लेख नित्य लिखे जा रहे हैं । हम ऐसे मार्ग पर अग्रसर हैं जहाँ हमारे पूर्वकर्म फलित होते हैं । हे प्रभु, तुम्हारी शक्ति असीम है । 'तुम क्यों उसे स्मरण नहीं करते, ऐ मूर्ख मनुष्य ! उसे विस्मृत करने से तुम्हारे सद्गुण भी गलित हो जाते हैं । रात्रि एक जाल है, दिवस उससे भी बड़ा जाल है, और बीतने वाले क्षण उसमें लगने वाली ग्रंथियाँ हैं; तुम सहर्ष उसके नीचे बिछे दाने को चुगते एवं दिन-दिन उसमें अधिक फँसते जाते हो । अरे मूर्ख, किस गुण से तुम अपने को मुक्त करवाओगे । शरीर भट्ठी है, मन उसमें तप्त हो रहा लोहा है तथा उसके गिर्द पाँच अग्नियाँ (पंच विकार) प्रज्वलित हैं । उस पर पापों का कोयला ढाला जा रहा है, मन जलता है तथा (उसे थामने के लिए) चिता की संसी है । इस प्रकार जलकर मन लोहमल (कूड़ा-कचरा) बन गया है; किन्तु यदि अब भी तुम किसी सच्चे गुरु की शरण लो, तो वह पुनः स्वर्ण बन सकता है । वह तुम्हारे मुँह में नामामृत उँडेल देगा, जिससे शरीर की अग्नियाँ शान्त हो जायँगी ।[२] सारतः, गुरु नानक कहते हैं कि मूल स्वीकृत तथ्य यह है कि चाहे कोई कुछ कहे, कैसा भी दावा करे, निर्णय हमारे कर्मों पर ही आश्रित होगा ।"[३] मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है, परन्तु जीवन-पथ में परिवर्तन के लिए उसे ऐसे गुरु का पथ-प्रदर्शन अपेक्षित है, जिसने परमानन्द-प्राप्ति के मार्ग को पहले से तय किया हो ।

४. गुरु

संसार के लगभग समस्त धर्मों ने गुरु की आवश्यकता पर बल दिया है; यद्यपि विभिन्न मतों में उसे पृथक्-पृथक् संज्ञा दी गई है । कुछ, उसे अपने इष्टदेव का अवतार मानते हैं । दूसरों के लिए वह बुद्ध (अनुभवी जीव), पैगम्बर अथवा ईश्वर-दूत है, तथा उनके द्वारा सम्मानित पुस्तकों को वही प्रस्तुत करता है । सिख शिक्षाओं के अनुसार ईश्वर अजन्मा है, अतः सिख गुरु ईश्वर के अवतार नहीं माने जाते । वे, अपने लिये, अनुभव द्वारा ज्ञान प्राप्त जीव के अतिरिक्त किसी विशेष पद का दावा नहीं करते—उन्होंने उस लक्ष्य को पाया है, जिसे सब खोजते हैं तथा उनमें अन्य गवेषकों के पथ-प्रदर्शन की सामर्थ्य

---

१. आसा पट्टी २२ ।
२. राग मारू ४:३ ।
३. वार सारंग, श्लोक २, पउड़ी २ ।

भी है। अन्ततोगत्वा, गुरु के आदेशों का पालन करने वाला शिष्य भी आध्यात्मिक उन्नति के उसी शिखर पर पहुँचता एवं परमानन्द का भोग करता है, जो गुरु को उपलब्ध हुआ होता है। अन्तिम अवस्था में, जैसाकि गुरु रामदास कहते हैं, "गुरु के आदेशों का पालन करने वाला सिख गुरु के साथ एकत्व स्थापित कर लेता है। फिर गुरु और शिष्य में कोई अन्तर महसूस नहीं होगा।"[1]

अतः, सिख से गुरु में पूर्ण विश्वास की आशा की जाती है। इस सिद्धान्त पर कोई आपत्ति कर सकता है और प्रश्न उठाया जा सकता है कि मनुष्य को गुरु के सम्मुख पूर्ण समर्पण की अपेक्षा अपनी विवेक-बुद्धि से क्यों नहीं चलना चाहिए ? परन्तु क्या हमारे दैनिक जीवन में सभी कार्य तर्कपूर्ण होते हैं ? आधुनिक मनोविज्ञान का अध्ययन इसे प्रतिकूल सिद्ध कर चुका है।

"मनुष्यों तथा उच्च श्रेणी के जन्तुओं के मानसिक धरातल के निर्माण में संस्कार रूप में उपलब्ध (जन्म-जात) प्रवृत्तियाँ अधिकांशतः बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। इन मूल-प्रवृत्तियों से मन की वे विशिष्ट तथा जन्म-जात प्रकृतियाँ अभिप्रेत हैं, जो किसी एक जाति के सभी प्राणियों में समान होती हैं। ये सहज संवेदनाएँ ही हमारी समूची क्रियाशीलता का उद्देश्य निश्चित करती हैं तथा प्रेरणाशक्ति देती हैं जिससे सक्रियता बनी रहती है।"[2]

"इसकी (मन की) मूल क्रियाएँ अधिकतर अतार्किक तथा अचेतन होती हैं। चेतन-तर्क की शक्ति बाद की उपज है, जो सहज-वृत्तियों, संवेगों एवं इच्छाओं से बने मानसिक प्रासाद पर, अति सुविकसित मानव प्राणियों में भी, मात्र बाह्य रूप से सतही प्रभाव ही डालती हैं। अधिकांश दशाओं में तर्क-शक्ति का प्रत्यक्ष महत्त्व भ्रामक होता है और वह गहराई में स्थित सहज-वृत्तियों तथा इच्छाओं द्वारा प्रेरित कार्यों पर आवरण डाल देती है।"[3]

इस विश्लेषण से पता चलता है कि हमारे बहुत कम कार्य तर्क-संगत होते हैं। दूसरी ओर, तर्क तो हमारी सहज-वृत्तियों तथा इच्छाओं से प्रेरित कृत्यों का औचित्य सिद्ध करता है।" मन तो विकारों, कुप्रवृत्तियों एवं द्वंद्व के प्रभाव में है,"[4] ऐसा गुरु नानक का कथन है, साथ ही वे कहते हैं, "तर्क सद्गुण-दुर्गुण का दावा करने वाले मन के संकेतों पर चलता है।"[5] अतः, नवजीवन आरम्भ करने तथा पुरातन-चक्र से मुक्त होने के लिए मनुष्य को पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता होती है। सत्य के गवेषक कहीं वेषधारियों से छले न जायँ, इसलिए

---

१. आसा छंत ८:७:६।
२. ए० जी० तांरले, दि न्यू साइकॉलोजी एण्ड इट्स रिलेशन टु लाइफ़, पृ० ३४।
३. वही, पृ० २४।
४. गउड़ी गुआरेरी १ : ३।
५. बिलावल अष्ट, ३:२।

गुरु नानक ने सद्गुरु के गुणों का निर्देश भी दिया है।

५. गुरु के गुण (लक्षण)

"जो महत् अनुभव तुम्हें सत्य में स्थिर कर सके, अनिर्वचनीय की चर्चा करवाए तथा 'शवद' के माध्यम से तुम्हें परमात्मा में लीन करवा सके, उसे गुरु स्वीकार करो। ईश्वरीय जीवों का अन्य कोई अविभोग नहीं। सच्चा स्वामी केवल सत्य से ही प्रेम करता है। जो व्यक्ति इस शरीर में रहते हुए अपने मन को सत्य में प्रतिपादित करते हैं, वे ईश्वर से प्रेम करने लगते तथा स्वयं सत्य का बिम्ब बन जाते हैं। जब मनुष्य किसी सच्चे गुरु से मिलता है, तो वह उसे प्रभु-चरणों में ले जाता एवं उसकी सेवा में प्रवृत्त करता है। अन्ततः, वह उसे ईश्वर में ही विलीन कर देता है।"[१] "सद्गुरु एक में सर्व तथा सर्व में एक देखता है एवं उसने मुझे भी ऐसा ही दिखाया है। जिस प्रभु ने लोकों और उपलोकों की रचना की है, वह अज्ञातव्य है। एक दीप ने दूसरे दीपक से ज्योति प्राप्त की और मैंने त्रिलोक में 'उसके' प्रकाश को व्याप्त देखा।"[२]

गुरु नानक नहीं चाहते कि उनका शिष्य गुरु में अन्ध-विश्वास रखे। वे तो उसे व्यापार से पूर्व, अपनी सूझ-बूझ से सामग्री की सर्वांग जांच कर लेने का आदेश देते हैं। "ऐ मृगाक्षी, इस गहन तथा महत्त्वपूर्ण वचन को स्मरण रख, कि व्यापार से पूर्व सामग्री की सर्वांगीण पहचान अनिवार्य है।"[३] धार्मिक जीवन एक अनुभव है। जब तक व्यक्ति गुरु की शिक्षाओं का अभ्यास न करे, वह गुरु का महत्त्व नहीं जान सकता। "जिसने गुरु-निर्दिष्ट मार्ग का अभ्यास किया, वह व्यापार में लाभ उठाकर घर लौटा। गुरु-शब्दों से उसने उस विश्वात्मा को जान लिया जो सामान्यतः वचनातीत है।"[४] गुरु मनुष्य को ईश्वर के सदन तक ले जाने वाला निर्देशक है। "प्रभु स्वयं एक अति सुन्दर प्रासाद है, जिसमें माणिक, लाल, मुक्ता, जवाहर तथा हीरे भरे हैं और जो कंचन-निर्मित होने से मनोहारी है। परन्तु सीढ़ी के बिना उस दुर्ग पर क्यों कर चढ़ा जाय? तुम गुरु के सहयोग एवं हरि में मन लीन करके उस अपूर्व सौंदर्य को देख सकते हो। वहाँ के लिए गुरु ही सीढ़ी है। गुरु ही नाव तथा हरि-नाम से भरा व्यापारिक-बेड़ा है। संसार-सागर से पार होने के लिए गुरु ही संतरण है। इस चिर-स्रवित नदी के तट पर वही एकमात्र पावन तीर्थ है। जब उसकी (प्रभु की) अनुज्ञा होती हैं, आत्मा उस तीर्थ में स्नान करती एवं पावनता लाभ करती है।"[५]

---

१. धनासरी अष्ट. ३:२।
२. रामकली दखणी ३:८।
३. श्लोक वार्रा ते वधीक, श्लोक २।
४. सूही अष्ट. ७:१:३।
५. सिरी राग २-३:६।

"गुरु उपकारक है, पूर्ण शान्ति उसमें निहित है। वह त्रैलोक्य में उजाला करने वाला प्रकाश-पुंज है। गुरु से प्यार करने वाला व्यक्ति चिर-शान्ति प्राप्त करता है।"[१] "सच्चे गुरु से साक्षात् होने पर व्यक्ति सत्यानुशासित जीवन अपनाता है। गुरु रूपी सोपान पर चढ़ते हुए मनुष्य ऊँचे से ऊँचा उठता है। परन्तु गुरु की उपलब्धि मात्र उसकी (प्रभु की) कृपा से ही सम्भव है, और उसके मिलन से मृत्यु-भय विनष्ट हो जाता है।"

६. सब के लिए एकमात्र मार्ग

गुरु नानक के उदय-काल में हिन्दुओं का विश्वास था कि विभिन्न वर्णों के धर्म भी भिन्न हैं। मुसलमान हिन्दुओं को काफ़िर समझते थे और पैगम्बर मुहम्मद पर विश्वास न करने वाले के नरक-गामी होने का दावा करते थे। गुरु नानक ने स्वीकार किया "कि धर्म केवल एक ही है, कोई भी सत्य का अभ्यास कर सकता है। प्रत्येक युग में परम-स्थिति की प्राप्ति गुरु की इन शिक्षाओं से 'कि निरन्तर प्रवाहमान तथा चिर-स्थायी शब्द की साधना करने वाला प्रभु-प्रेरित व्यक्ति ही अज्ञातव्य और परम को प्राप्त करता है',[२] ही सम्भव हो पाती है। सम्प्रदाय-विशेष का स्वरूप मात्र स्वीकार कर लेना अथवा किसी मत के स्मृति-चिन्हों को धारण करना बेकार है।" जब कोई हिन्दू हिन्दू-समाज में प्रवेश पाता है, वे उसके गले में सूत का धागा पहनाते हैं। अधिष्ठापन के पश्चात् भी यदि वह दुष्कर्म करता है, तो उसके तीर्थ और प्रक्षालन किसी काम नहीं आएँगे। मुसलमान अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा करता है तथा उसकी मान्यता है कि पैगम्बर मुहम्मद में विश्वास बनाए बिना किसी भी व्यक्ति को स्थान (उसके दरबार में) नहीं मिलता। किन्तु बहुत कम लोग पैगम्बर के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का आचरण करते हैं। बिना उत्तम कर्मों के कोई बहिश्त (स्वर्ग) में नहीं जा सकेगा। जोगियों की पद्धति में जो मार्ग निर्दिष्ट है, उसके प्रतीक रूप में वे कानों में मुद्राएँ पहनते हैं। कानों में मुद्राएँ पहनकर वह स्थान-स्थान पर भटकना शुरु कर देता है। (वह भूलता है) कि स्रष्टा तो यहाँ, वहाँ सब जगह विद्यमान है। सब मनुष्य पथिक हैं, परमादेश मिलते ही वे अविलम्ब चल पड़ेंगे। जो व्यक्ति यहीं उसकी जानकारी प्राप्त कर लेता है, वही मृत्यु-परांत भी उसे जानता है। शेष, हिन्दू अथवा मुसलमान होने की डींगें मारना व्यर्थ है। उसके सम्मुख तो सबको हिसाब चुकाना ही होगा। उत्तम सत्कर्मों के बिना कोई मुक्ति नहीं पा सकेगा। कोई विरल जीव ही सत्यों में परम-सत्य की चर्चा करता है। इसके पश्चात्, गुरु नानक कहते हैं, उससे कोई प्रश्न पूछना

---

१. वार माझ, श्लोक १, पउड़ी १। २. बसन्त अष्ट, ४ : ३।

शेष नहीं रह जाता।"[१]

गुरु नानक सम्प्रदायों, वर्णों, जातियों अथवा देशों के आश्रय मनुष्यों का वर्गीकरण नहीं करते। उनके मतानुसार मनुष्य दो प्रकार के हैं—गुरुमुख (ईश्वरोन्मुख) तथा मनमुख (अहमन्य)। पूर्व-कथित प्रकार के जीव भगवान् की ओर उन्मुख रहते, सत्य का अभ्यास करते तथा समूची मानवता के लाभार्थ कार्य करते हैं। उत्तर-कथित जीव अपने ही मन की सनक का अनुसरण करते तथा छल, क्रूरता, मिथ्यात्व एवं स्वार्थ का व्यवहार करते हैं। मनुष्य अपने को कुछ भी समझे, किन्तु यदि उसे मानव-जीवन के दुःखों और कष्टों से छुटकारा पाना है, तो उसी निश्चित पथ पर कदम बढ़ाना होगा। यह नियन्त्रण सबके लिए समान है।

"मार्ग की जानकारी होना तथा गुरु-कृपा से ईश्वर-लब्धि ही सच्चे योगी के गुण हैं। अपने को अन्तर्मुखी करने तथा गुरु-कृपा से वर्तमान जीवन में 'स्व' को मारने वाला व्यक्ति काजी है। ब्रह्म का चिन्तन करने वाला ही ब्राह्मण है। वह अपनी तथा अपनी कई पीढ़ियों की सुरक्षा करता है। अपने हृदय को पवित्र करने वाला जीव ही ज्ञानी है। अपावनता का विनाशक ही मुसलमान है। शास्त्रों को पढ़कर अभ्यास में लाने वाला व्यक्ति ही उसे स्वीकार्य होता है, और वही उसके दरबार का पद-चिह्न शिरोधार्य करता है।"[२]

"जो ब्रह्म को पहचाने, उसके लिए जप, तप एवं संयम का अभ्यास करे तथा संतोष और सद्भाव पर दृढ़ आचरण करे, वही ब्राह्मण है। वह सब बंधनों को भंग करता तथा मुक्ति-लाभ करता है। ऐसा ब्राह्मण पूजने-योग्य है।"[३]
"खत्री वीरता के कर्म करता तथा उदारता और सद्भावना का मूर्त्त रूप होता है। दान देते हुए वह पात्र की योग्यता की जाँच करता है। ऐसा खत्री उस (ईश्वर) के दरबार में स्वीकार्य है। किन्तु यदि वह लोभ और लोलुपता से मिथ्या व्यवहार करता है, तो उसे अपने दुष्कर्मों का दण्ड भुगतना पड़ेगा।"[४]

"मुसलमान कहलवाना कठिन है, परन्तु यदि कोई सचमुच मुसलमान है, तो उसे ऐसा कहलवाने का अधिकार है। इसके लिए पहली शर्त धर्म-प्रेम है, फिर सम्पत्ति का त्याग कर हृदय को (पापों के) धब्बों से निर्मल करना अपेक्षित है। जब व्यक्ति मुसलमान बनता तथा धर्म को अपना (जीवन-नौका का) कर्णधार स्वीकार करता है, तो उसे अपने जीवन-मरण की चिन्ता त्याग देनी चाहिए। उसे ईश्वरेच्छा के सम्मुख नतमस्तक होना, स्रष्टा का आज्ञा-पालन करना तथा आत्म-प्रेम अपेक्षित है। जब वह सब जीव-धारियों पर दया करना

---

१. वार रामकली, श्लोक २, पउड़ी ११।
२. धनासरी ४ : ५ : ७।
३. श्लोक वारां ते वधीक १६।
४. श्लोक वारां ते वधीक १७।

सीखता है, तभी मुसलमान कहलवा सकता है।"[1]

जैसे पेड़ की पहचान उसपर उपजने वाले फल से होती है, वैसे ही मनुष्य का धर्म उसके कर्मों से जाना जाता है। ऐसे परिधान, चिह्न, आकार, अनुष्ठान, धर्मविधियाँ तथा रीति-रिवाज, जो उत्तम कर्मों की प्रेरणा न दें, मनुष्य को आध्यात्मिक उन्नति के पथ पर दूर तक ले जाने में पूर्णतः असमर्थ हैं। वास्तविक समस्या मन को अनैतिक प्रवृत्तियों से मुक्त करने की है। यदि वह लक्ष्य पूर्ण न हुआ, तो हमारा सब जप-तप व्यर्थ है।

"कुछ लोग जंगलों में रहते तथा कंद-मूल पर निर्वाह करते हैं। कुछ भगवा धारण कर इधर-उधर भ्रमते तथा योगी-संन्यासी कहलाते हैं। वे प्रायः अन्तर से तृष्णावान् होते हैं तथा भोजन-वस्त्र की चिन्ता में समय नष्ट करते हैं—न वे गृहस्थी रहते हैं, न पूर्णतः उदासीन ही बन पाते हैं। वे तीन गुणों से उपजने वाली कामनाओं तथा मृत्यु से बच नहीं पाते। गुरु के आदेशों का पालन करने वालों तक यम की कोई पहुँच नहीं। वह (यम) उनके दासों का भी दास बना रहता है। सच्चे 'शबद' पर विश्वास रखते तथा हृदय में सत्यता लिए हुए वे गृहस्थ में रहकर भी विरक्ति का अभ्यास करते हैं। नानक कहते हैं, जो गुरु की सेवा में आता है, वह सब कामनाओं से मुक्त हो जाता है।"[2]

"वे दूसरों में त्याग-भावना का प्रचार करते हैं, परन्तु अपने मठ स्थापित करते हैं। अपना आवास छोड़कर वे सत्य को क्योंकर पा सकते हैं? उनमें ममता तथा स्त्री-आकर्षण तो बना ही रहता है। वे न तो अवधूत बन पाते हैं, न गृहस्थी ही रहते हैं। ऐ योगी! भ्रम के दुःखों को दूर करने हेतु अपने ठिकाने पर स्थिर रहो। क्या द्वार-द्वार पर भिक्षा माँगने में तुम्हें लाज नहीं लगती? तुम स्तोत्र गाते हो, किन्तु अपने को भी नहीं पहचानते। इस पर तुम्हारे कष्टों का अन्त कैसे हो? भिक्षा-वृत्ति से प्राप्त भोजन की अपेक्षा यदि तुम प्रेम-भरे हृदय से 'गुरु-शबद' में विश्वास जगाओ, तो तुम्हें उच्चतम विचारों का भोजन प्राप्त होगा। जो भस्म लगाते और फिर भी पाखण्ड करते हैं, उन्हें माया से बंधे होने के कारण यम-दण्ड सहना ही पड़ेगा। टूटे हुए प्याले (विभ्रान्त हृदय) में प्रेम का उपहार रह ही नहीं सकता। कर्मों से बंधकर तुम्हें सदैव आना-जाना पड़ेगा। तुम यति कहलवाते हो, फिर भी संयम नहीं रखते। भिक्षा माँगते हुए स्त्रियों को माई अर्थात् 'माता' कहते हो, परन्तु तुम्हारी आँखों में वासना भरी रहती है। ऐसे लोग क्रूर हैं, उनमें परम-ज्योति की दीप्ति विद्यमान नहीं। वे सिर से पाँव तक सांसारिक बंधनों में फंसे हैं। वे अपने वर्ग का परिधान—कफ़नी—पहनते और अभिनेता की भान्ति मिथ्या अभिनया-

---

१. वार माझ श्लोक १, पउड़ी ८। २. वार माझ पउड़ी ५।

चरण करते हैं। उनके अन्तर में कामना की अग्नि जल रही है; अतः, सत्कर्मों के अभाव में उनका मोक्ष किस प्रकार सम्भव हो सकता है ? वे कानों में काँच की मुद्राएँ पहनते हैं, किन्तु यथार्थ ज्ञान के बिना मुक्ति कहाँ ! उनकी जिह्वा स्वादिष्ट भोजन के लोभ में पड़ी है। वे पशु बन गए हैं और पशुता का त्याग नहीं कर सकते। संसार के सब लोग तथा योगी भी, तीन गुणों के प्रभाव में हैं। 'शब्द' के प्रतिपादन से ही शोक का अन्त सम्भव है। जो जीव सच्चे 'शबद' द्वारा अपने को पवित्र बनाता है, वही वास्तविक योग का जानकार है। हे ईश्वर, नौ निधियों पर तुम्हारा अधिकार है, तुममें निर्माण और विनाश की शक्तियाँ निहित हैं। जो तुम्हारी इच्छा होती है, वही होता है। हृदय में जब सत्य का वास होता है, तब ब्रह्मचर्य, सद्भाव तथा आत्म-संयम अपने-आप उदित होते हैं। नानक कहते हैं, ऐसा योगी तीनों लोकों का हितैषी होता है।"[१]

"हम तीर्थों पर जाकर निवास करें, अथवा मौन साधना या जप, तप, संयम, सद्भावना तथा अन्य उत्तम कर्मों का अभ्यास करें, परन्तु परमसत्य से (प्रेम के) अभाव में ये सब व्यर्थ हैं। जो कुछ मनुष्य बीजता है वही वह काटता हैं; सद्गुणों की प्राप्ति के बिना जीवन निरर्थक है। ऐ साधक ! केवल वही (आत्मा) शान्ति-लाभ करती है, जो सद्गुणों से युक्त है। जो अपने दुर्गुणों का त्याग कर स्वयं को उसमें (प्रभु में) लीन कर लेती है, वही गुरु की परम शिष्या है।"[२]

आध्यात्मिक जीवन का आधार नैतिक आचरण है। हृदय से पवित्र जीव ही ईश्वर को पाएगा। "सत्य पवित्र पात्र (हृदय) में ही स्थिर रहता है, किन्तु शुद्ध आचरण अपनाने वाले व्यक्ति बहुत कम होते हैं। मेरी हृत्तन्त्री के तार अब उस परम-तन्त्री (दिव्य यथार्थता) के साथ स्वरैक्य स्थापित कर चुके हैं। नानक को प्रभु की शरण प्राप्त हो गई है।"[3] "अधमता का त्याग कर सद्गुणों का अनुसरण करो; जो लोग पाप करते हैं, उन्हें अन्ततः पछताना होगा। जो लोग उचित और अनुचित अवसर में भेद नहीं कर सकते, वे पुनः-पुनः (पापों के) कीचड़ में मलिन होते हैं। अपने भीतर लोभ की धूल तथा जिह्वा पर मिथ्या भाषण रखकर, शरीर के प्रक्षालन का क्या लाभ ? गुरु की सहायता से पवित्र नाम का स्मरण करो, केवल तभी तुम्हारा अन्तर्मन शुद्ध हो सकेगा। लोलुपता छोड़, निंदा तथा मिथ्यावाद का निराकरण करो; तब गुरु-शिक्षाओं से तुम्हारा कल्याण सम्भव होगा। हे प्रभो, जैसा तुम्हें सुहाए, मुझे वैसा ही रखो; तुम्हारा दास, नानक, तुम्हारे नाम की महिमा का सदैव गान करता रहेगा।"[४]

---

१. रामकली अष्टपदी २।
२. सिरी राग, अष्ट १ : ६।
३. सोरठ ५ : ६।
४. सोरठ ४ : ६।

निर्विकार भाव से प्रभु का स्मरण करने से हृदय पवित्र होता है। "जब हमारे खाद्य, हाथ, शरीर अथवा कोई अन्य भाग मलिन हो जाते हैं, तो जल से धोकर उनकी धूल साफ़ कर ली जाती है। जब कपड़े मल से अपवित्र हो जाते हैं, तो उन्हें साबुन से धोकर शुद्ध कर लिया जाता है। इसी प्रकार, जब हमारी मति पापों से भ्रष्ट हो जाती है, तो उसे नाम के प्यार से धोया जा सकता है।"[1] "अपने हृदय की शिला पर मैं नाम का चन्दन रगड़ूँगा। उसे सत्कर्मों के केशर में मिश्रित कर मैं मन में तुम्हारी आराधना करूँगा। 'नाम' का ध्यान और मनन करने से ही भक्ति होती है, उसके बिना भक्ति का कोई स्थान नहीं। बाहर के देवी-देवताओं को स्नान करवाने का कोई लाभ नहीं, अपने अन्तर्मन को धोओ। आत्मा को सर्व-मलिनता से स्वच्छ करने से ही तुम्हें मोक्ष-मार्ग की प्राप्ति होगी।"[2]

सम्प्रदाय के सूत्रों तथा चिह्नों का महत्त्व तभी होता है, जब हम उनमें निहित अर्थ को समझते हैं। "जब तक उनमें अर्थ सजग है, वे न केवल लाभ-प्रद हैं, बल्कि सार्थक और जीवन-दायी भी हैं। जब हम यह विचारते हैं कि इनमें (सूत्रों-चिह्नों आदि में) कोई भौतिक और चमत्कारक गुण भी है, तब परिणामतः हम ईश्वर से दूर हटते तथा लगभग नास्तिक बनते जाते हैं।"[3] एक हिन्दू चुंगी मुहररर की भर्त्सना करते हुए गुरु नानक कहते हैं कि वह हिन्दू धार्मिक-चिह्नों को धारण करता है, किन्तु उसका आचरण उनके वास्तविक अभिप्राय से बिल्कुल विपरीत है। उसने चुंगी-कर चुकाए बिना एक ब्राह्मण तथा उसकी गाय को पार नहीं जाने दिया था, और फिर उसी गाय के गोबर से उसने अपनी रसोई में लिपाई की थी, एवं उस स्थान को पवित्र मानकर वहाँ भोजन बनाने लगा था।

"तुम गो-ब्राह्मण पर तो कर लगाते हो, गोबर तो तुम्हें पार नही पहुँचा सकता। तुम धोती, माला और तिलक का परिधान बनाते हो, परन्तु म्लेच्छों का अन्न खाते हो। घर में तुम पूजा (हिन्दू ढंग की साधना) करते हो, और बाहर तुर्कों की धर्म-पुस्तकें पढ़ते तथा उन्हीं सरीखा आचरण करते हो। यह पाखण्ड छोड़ दो! केवल नाम-स्मरण से ही तुम्हारी रक्षा होगी। उधर मानव-भक्षी नमाज़ पढ़ते हैं। इधर जो उनके लिए छुरी चलाते हैं, वे जनेऊ पहनते हैं तथा ब्राह्मण उनके यहाँ भोजन पाते हैं। वे भी इसपर प्रसन्न हैं। उनकी पूँजी तथा व्यापार दोनों मिथ्या हैं, और मिथ्या वचनों से ही वे भोजन प्राप्त करते हैं। शील-धर्म उनके आवास से दूर हैं; नानक कहते हैं, "सब ओर मिथ्यात्व

---

१. जपुजी २० पउड़ी। २. राग गूजरी २ : १।
३. फ्रॉयड : शॉर्ट स्टडीज़, भाग १, पृ० ६०।

व्याप्त है।"[1] "सच्चे नाम के बिना तिलक-जनेऊ सब व्यर्थ हैं।"[2]

मुसलमान को उन्होंने कहा, "पाँच नमाज़ें हैं, उनके पाँच पृथक् समय हैं और पांच विभिन्न नामों से उन्हें पुकारा जाता है। प्रथम सत्य है, द्वितीय आजीविका के सम्यक् साधन, और तीसरे प्रभु-नाम से प्रेम है। चौथी नमाज़ उचित संकल्प तथा पांचवीं नमाज़ सर्वशक्तिमान् का गुणगान है। (ये पाँचों नमाज़ें अदा करो, तथा) सत्कर्मों का क़लमा पढ़ो, तब तुम मुसलमान कहलवाओगे।"[3]

इसी प्रकार उन्होंने योगी को सम्बोधन किया है। "मन में गुरु के 'शबद' की मुद्राएँ पहनो तथा धीरज की कफ़नी धारण करो। उसके सब कृत्यों को अनुकूल-भाव से जानो, और इस तरह सहज-योग को प्राप्त करो। बाबा, परम सत्य के साथ संगठित आत्मा युग-युग तक योगी बनी रहती है। वह आत्मा, नाम का अमृत पान कर पावन होती है, तथा उसका शरीर ज्ञान-गंध से सुवासित हो उठता है। सब शोक-संताप तथा वाद-विवाद को छोड़कर वह आत्मा के यथार्थ खण्ड में स्थान प्राप्त कर लेता है। 'शबद' ही उसकी सिंगी (सींग का बाजा) है, जिसका सुमधुर संगीत दिन-दिन गुंजरित होता है। चिन्तन ही उसका पात्र है, वह विवेक-बुद्धि का दण्ड धारण करता तथा वर्तमान में स्थित-प्रज्ञता की विभूति रमाता है। हरि-गुण-गान ही उसका कीर्तन है, गुरमुख (आत्मा) का मार्ग सर्वाधिक विरक्ति का रास्ता है। अनेक वर्णों में उसी प्रभु की ज्योति देखना ही उसकी बैरागिन[4] है। नानक कहते हैं, "ऐ भरथरी योगी, सुनो, परम-सत्य की साधना ही एकमात्र लक्ष्य है।"[5]

गुरु नानक ने सब मनुष्यों में समानता का प्रचार किया। "मैं सब मनुष्यों को उत्तम मानता हूँ, किसी को अधम नहीं समझता। सब घटों को एक निर्माता ने समान रूप दिया है, समूची सृष्टि में एक ही ज्योति व्याप्त है। मनुष्य इस सत्य की जानकारी उसकी कृपा से ही प्राप्त करता है, उसके उपकारों को कोई नहीं भुला सकता।"[6] "जन्मगत जाति व्यर्थ है, इससे तुम सत्य के जानकारों का नैकट्य प्राप्त नहीं कर सकते। मनुष्य की जाति अथवा मत उसके कृत्यों द्वारा निश्चित होता है।"[7] "जाति से कोई लाभ सम्भव नहीं। वहाँ अन्तर्मन के सत्य की जाँच होगी। विष का सेवन करने वाले सभी मृत्यु को प्राप्त होते हैं। ध्यान

१. वार आसा, श्लोक १, पउड़ी १६। २. वार आसा, श्लोक १, पउड़ी ८।
३. वार माझ ९ : ३, पउड़ी ७।
४. बैरागिन आधारी को कहते हैं; यह लकड़ी का आश्रय होता है, जिसे ध्यान लगाते समय योगी भुजाओं के नीचे रखते हैं।
५. राग आसा ४ : ३ : ३७। ६. सिरी राग अष्ट ६ : १४।
७. राग प्रभाती ४ : १०।

दो, ईश्वर युग-युग का शासक है। उसके दरबार में केवल वे ही सम्मानित होंगे, जो उसका 'हुकम' मानेंगे। मुझे प्रभु ने भेजा तथा इस कार्य को करने की आज्ञा दी है। नगाड़ची (गुरु) ने 'शबद' द्वारा विचार प्रतिपादित किया है।"[१]

अतः, उन्होंने सब मनुष्यों को यही शिक्षा दी है कि 'नाम' का संयमन ही ईश्वर-कृपा तथा मोक्ष का आधार है। "यदि मुझे किसी पवित्र स्थान पर जाना अपेक्षित है, तो वह स्थान 'नाम' है। 'शबद' का प्रतिपादन ही तीर्थ है, जो आत्म-ज्ञान का कारण बनता है। गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान ही यथार्थ तीर्थ है, और उसमें स्नान करना सदैव कल्याणप्रद है। मैं सदैव हरि-नाम की याचना करता हूँ; ऐ धरणी-धर प्रभु, मुझे यही प्रदान करो। संसार रुग्ण है और नाम उसकी औषधि है। सत्य पर धूल की परत चढ़ी है। गुरु का 'शबद' सदैव निर्मल प्रकाश का उत्स है, (जो अनुसरण करते हैं) प्रतिदिन सत्य के पावन जल में स्नान करते हैं।"[२] नाम सर्व-व्यापक है, सम्पूर्ण सृष्टि का आधार यही है। "सृष्टि में नाम भरपूर है, कोई स्थान नाम-रहित नहीं।" नाम-चिन्तन का अर्थ परम-सत्य के सर्व-व्यापक एवं सर्वाश्रय पहलुओं पर ध्यान केन्द्रित करना है। इससे अन्ततोगत्वा हम जान लेते हैं कि हमारा रहना, चलना-फिरना तथा जीना उसी में निहित है।" उसकी उपस्थिति के बोध से हमारे समस्त दुर्गुणों का विसर्जन हो जाता है; किन्तु नाम-निधि की प्राप्ति तभी सम्भव है, जब हमारे अहम् का अन्त हो चुका होता है। (अग्नि, जलादि) तत्त्वों से बने इस शरीर में पवन से उग्र सम्भाषण होता है। जिह्वा तथा अन्य इन्द्रियों की पृथक्-पृथक् रुचि है, हमारे नेत्र दर्शन-सुख के इच्छुक हैं, तथा प्रेम और ईश्वरीय-भय का हमें कोई ध्यान नहीं रहता। किन्तु नामोपलब्धि तो अहम्-त्याग से ही सम्भव है।"[३] इससे कामना की अग्नि बुझती तथा हृदय में शान्ति भरती है। "हृदय में नाम को धारण करने तथा मुख में नामामृत पान करने वाले व्यक्ति को ईश्वर अपने ही समान अनाकांक्षी बना लेता है।"[४]

"दुर्गुणों का अन्त कैसे हो? मिलन की तड़प को कैसे पुनर्जीवित किया जाये? (यही वास्तविक समस्या है।) कान बिंधवाने तथा भिक्षाटन करने का कोई लाभ नहीं। मन को स्थिर करने वाला 'शबद' कौन-सा है? केवल 'नाम' ही हमें नरकवास से चिर-स्थायी जीवन की ओर प्रेरित करता है। जब मनुष्य के लिए हर्ष-शोक समान हो जाता है, नानक कहते हैं, तभी वह गुरु की शिक्षाओं की यथार्थ अनुभूति प्राप्त करता है। छः शास्त्रों का अनुकरण करने वाले श्रम-साधक न तो गृहस्थी हैं, न संन्यासी। किन्तु जिसने निराकार में लीनता का

---

१. वार माझ, पउड़ी १०।
२. धनासरी छंत १ : १।
३. राग गउड़ी २ : ७।
४. गउड़ी १ : ६।

लक्ष्य पा लिया हो, वह भिक्षाटन को क्यों जायगा !"[1]

हम अपने प्रिय को स्मरण करते हैं। स्मृति प्रेम को बनाती और बढ़ाती है। इसीलिए गुरु नानक का संदेश है कि निरन्तर ईश्वर का स्मरण हमारे मन में प्रभु-प्रेम जागृत करता तथा आन्तरिक मलिनता का नाश करता है। अतः कहा जा सकता है कि हमारे सब कष्टों का एकमात्र उपचार 'नाम-स्मरण' ही है। यदि व्यक्ति नाम की भूख अनुभव करे, तो उसके सांसारिक दुःख ही उसको भोजन बनकर सन्तोष देते हैं।"[2]

जब संसार को माया अथवा प्रकृति का सृजन माना जाने लगा, तथा लोगों को माया या प्रकृति के फंदों से मुक्त होने की शिक्षा दी गई, तब स्वभावतः ही आध्यात्मिक उन्नति के लिए उत्सुक लोगों ने सांसारिक क्रिया-कलाप का त्याग कर दिया और जंगलों अथवा पर्वतीय गुफ़ाओं में जाकर रहने लगे। गुरु नानक इससे सहमत नहीं थे। उनके मतानुसार मनुष्य सांसारिक कर्म करते हुए भी आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है। "सत्य का चिन्तन करने से ज्योति का उदय होता है, तब ऐन्द्रिय सुखों के बीच भी मनुष्य विरक्त बना रहता है। गुरु की यही महिमा है कि उसकी शरण में आया जीव स्त्री-पुत्रों संग रहता हुआ भी मोक्ष लाभ करता है।"[3]

लोहारीपा ने, जो गोरखनाथ का शिष्य कहलाता था, गुरु नानक को योगी बनकर उन्हीं की जीवनचर्या अपना लेने का सुझाव दिया।

"हाट-बाट से दूर संन्यासी जंगल में झाड़ियों और पेड़ों में रहता है। भोजनार्थ वह कंद-मूल का सेवन करता तथा ज्ञान-चर्चा में मग्न रहता है। तीर्थों पर स्नान करने से उसे मानसिक शान्ति मिलती तथा मन निर्मल होता है। गोरख का शिष्य लोहारीपा कहता है कि यही योग-मार्ग है।"[4] गुरु नानक ने उत्तर दिया, "हाट-बाट में मनुष्य को सावधान रहना चाहिए तथा अपने मन को पर-स्त्री की ओर आकर्षित नहीं होने देना चाहिए। नाम के आधार के बिना मन को कोई सम्बल प्राप्त नहीं और न ही उसकी भूख (सांसारिक वस्तुओं की) शान्त होती है। गुरु ने मुझे वह दुकान, तथा घर दिखाया है, जहाँ मैं शान्तिपूर्वक सत्य का व्यापार करता हूँ। नानक कहते हैं, मेरी निद्रा (प्रमाद की) टूट चुकी है और अब मैं अल्पाहार तथा तत्त्व-विचार का प्रतिपादन करता हूँ।"[5]

उन्होंने अपने शिष्यों को भिक्षाटन की नहीं, बल्कि परिश्रम से अर्जन करने एवं दरिद्रों को दान में कुछ देने की सम्मति दी है। नानक कहते हैं, "जो अपना

---

१. वार रामकली श्लोक ७, पउड़ी १२।
२. रहिरास १ : ३।
३. धनासरी राग २ : २ : ४।
४. रामकली सि० गोष्ठी, पउड़ी ७।
५. रामकली सि० गोष्ठी, पउड़ी ८।

जीविकोपार्जन स्वयं करता तथा दूसरों को भी बाँटकर देता है, वही वास्तविक पथ को पहचानता है।"[१]

'गुरु नानक की शिक्षाओं' पर लिखे इस लेख को, मैं गुरु नानक के ही शब्दों में 'आदर्श पुरुष' की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए, समाप्त करता हूँ :

ऐसे जन विरले जग अंदरि परखि खजाने पाइआ।
जाति वरन ते भए अतीता ममता लोभु चुकाइआ।
नामि रते तीरथ से निरमल दुखु हउमै मैलु चुकाइआ।
नानकु तिन के चरन पखालै जिन गुरमुखि साचा भाइया।।[२] ८ : ७ ।

---

१. वार सारंग, श्लोक १, पउड़ी २२ ।

२. प्रभाती अष्टपदी ८ : ७ ।

(इस जगत में कोई-कोई ही ऐसे व्यक्ति हैं, जिनकी सर्वांगीण जांच करके ईश्वर ने उन्हें अपने मुक्त-कोष में संग्रह कर लिया है।

उन्होंने जाति-वर्ण के बन्धनों से मुक्ति पा ली है, तथा लोभ और ममता का त्याग कर दिया है।

'नाम' में आसक्त होने से वे निर्मल तीर्थ के समान बन गए हैं और उनमें से दुःख तथा अहंकार की मलिनता का अन्त हो गया होता है।

नानक ऐसे गुरमुख सन्तों के चरण धोता है, जिनके हृदय में परम-सत्य निवसित है।)

: ४ :

सिख-धर्म तथा दर्शन के अनिवार्य मूल-तत्त्व

डॉ० तारनसिंह

गुरमत तथा गुरदर्शन क्रमशः सिख-धर्म तथा सिख-दर्शन के लिए प्रयुक्त अनिवार्यतः सुव्यक्त शब्द हैं। गुरमत गुरु-मार्ग है, अर्थात् यह गुरु द्वारा प्रदर्शित पथ है; गुरदर्शन उसका दिव्यावलोकन है, अर्थात् गुरु द्वारा यथार्थता का अवलोकन। इन दोनों मूल-तत्त्वों की प्रामाणिक परिभाषा तथा विषय-वस्तु आदि-ग्रंथ अथवा गुरु ग्रंथ में दी गई हैं। इनकी दूसरी व्याख्या, अन्य अनेक रचनाओं यथा दशम-ग्रंथ, भाई गुरुदास की रचनाओं तथा भाई नन्दलाल की कृतियों एवं 'जनम-सखियों' अर्थात् सिख-धर्म के प्रणेता गुरु नानक और उनके नौ उत्तराधिकारियों की जीवनियों में, उपलब्ध है। 'गुरु' शब्द सिख गुरुओं अथवा किसी समय और स्थान विशेष के सन्तों का सूचक ही नहीं;[1] वरन् यह एक दैवी संस्था अथवा दिव्य ज्योति के परम-कण का नाम है, जो निरन्तर ज्योतिर्मान रहता है और दिव्य वाणी के रूप में विभिन्न देश-काल के जन-मानस को प्रेरित करता एवं उनकी नियति का निर्देशक होता है। दिव्य-वाणी का श्रवण सन्तों तथा देव-पुरुषों के अन्तर से निसर्गतः होता है, उन पर वर्ग या सम्प्रदाय सूचक लेबल लगाने की आवश्यकता नहीं होती। आध्यात्मिक-पथ के जानकार होने के नाते, जोकि उनका स्वानुभूत होता है, वे सन्त अथवा गुरु कहलाते हैं। शब्द के इसी भाव में गुरमत भी साम्प्रदायिक, वर्गीय अथवा संकीर्ण नहीं है; इसमें युग-युग से भारतीय सन्तों द्वारा निर्दिष्ट ईश्वरीय-ज्योति निहित है। अतः निश्चय ही गुरमत ज्योति-पथ, दैवी-ज्योति का पथ है। इसी प्रकार गुरदर्शन भारत के गुरुओं, सन्तों और महात्माओं द्वारा किए गए सत्यान्वेक्षण का नाम है। अतः गुरमत भारतीय गुरुओं, सन्तों और महात्माओं के विचारों का सामंजस्य है, तो गुरदर्शन भी सन्त-महात्माओं द्वारा परम-सत्य का लगभग समान अनुभव है। इसलिए प्रश्न उठता है कि सिख गुरुओं की विशेष देन क्या है ? क्या गुरुओं में मौलिकता नहीं थी ? क्या पीड़ित मानवता को देने के लिए उनके पास कुछ भी नवीन न था ? इनका उत्तर सामान्य मान्यता में से, कि धर्म का पतन होने पर

---

१. गुरु-ग्रंथ में सिख गुरुओं की वाणी के अतिरिक्त जयदेव, कबीर, रविदास, नामदेव आदि अन्य सन्तों की वाणी भी संकलित है।

ईश्वर सन्तों को भेजता है, खोजना होगा। धर्म की स्थिति अनेक पूर्वावसरों की भाँति तब भी निम्नतम स्तर तक पहुँच चुकी थी—भारत में दिव्य-ज्योति मंद पड़ गई थी तथा धार्मिक अनीति, औपचारिकता, आनुष्ठानिकता, पाखण्डी वेषों तथा पुरोहिताई आदि के रूप में प्रसारित धर्म के की धुंध में ज्योति-पथ अदृश्य होता जा रहा था। सिख गुरुओं ने धर्म के सूर्य के पुनरुदय में सहयोग दिया। इस प्रयास में उन्होंने धर्म के स्वरूप को स्वभावतः सरलीकृत, आकर्षक तथा सुगढ़ बनाया एवं दिव्य-ज्योति को नवीन दीप्ति और स्वरूप प्रदान किया। गुरमत स्वयं परमात्मा द्वारा प्रदीप्त वही शाश्वत लौ है, और उसकी इच्छानुसार ही गुरुओं तथा सन्तों के माध्यम से इसको संबलित किया जाता है।

गुरमत

गुरमत मनुष्य के अनुकरणार्थ उच्चतम आदर्श मार्ग है। इसका लक्ष्य मनुष्य को भौतिक, मानसिक तथा सांवेगिक पीड़ा या वेदना से ही नहीं, बल्कि विशेषकर आधिभौतिक पीड़ा से भी मुक्ति दिलाना है। गुरमत के अनुसार भौतिक तथा मानसिक पीड़ा का कारण भी आत्मा में विद्यमान है, इससे विपरीत सम्भव नहीं—अहंकार के उपकरण द्वारा निर्मित संसार अथवा परिवर्तनीय जगत के कारण दिव्यता से पृथक् हो जाने से ही मनुष्य आधिभौतिक पीड़ा का पात्र बनता है। अहम् के आवरण में मनुष्य ज्योति अथवा धर्म का मार्ग त्यागकर अन्धकार तथा अनीति का पथ ग्रहण कर लेता है। परिणामतः उसका सामना आधिभौतिक, मानसिक तथा भौतिक पीड़ा से होता है। गुरमत उसे ज्योति, दिव्यता, निरहंकारता, सेवा तथा ईश्वरैक्य का मार्ग दिखाता है।

प्रश्न उठता है : अहम् का वह संसार क्या है जिसका निर्माण मानव-पतन तथा ईश्वर से विलगता के कारण आत्मा करती है ? गुरु नानक अहम्-जगत अथवा अधर्म तथा उसके द्वारा होने वाले मानवीय उत्पीड़न का एक लाक्षणिक चित्र प्रस्तुत करते हैं। वह कहते हैं—

तितु सरवरड़ै भईले निवासा
पाणी पावकु तिनहि कीआ।
पंकजु मोह पगु नही चालै
हम देखा तह डूबीअले।१।
मन एकु न चेतसि मूड़ मना।
हरि विसरत तेरे गुण गलिआ।

(१ रहाउ : २:२६, राग आसा म० १, आ० ग्रं० पृ० ३५७)

वास्तव में अहम्-जगत् पीड़ा का जगत् है! यह अग्नि-लोक है—अग्नि, जो कि

कामनाओं तथा असन्तुष्ट कामनाओं के परिणामस्वरूप हिंसा, स्वार्थ, लोलुपता तथा क्रोध की चार अनैतिकताओं की प्रतीक है। अहम् की दुनिया आसक्ति, स्वार्थ, लोभ तथा की दुनिया है।

गुरमत का आरम्भ ऐसे अनुकूलतम वातावरण से है कि मनुष्य नियति को साकार कर सकता है। यह नियति दिव्य मिलन और शाश्वत आनन्द का रूप है, जो वर्तमान तथा वर्तमानोत्तर काल में सदैव बनी रहती है। मनोवैज्ञानिक रूप से इसकी संस्थापना 'व्यक्ति वही बनता है, जिसके लिए लालायित होता है' वाले सिद्धान्त में हुई है। अतः गुरु अर्जुन मनुष्य की निम्न नियति को देखते तथा ऐसी नियति के स्वामी परमात्मा की स्तुति गाते हैं—

ना ओहु मरता ना हम डरिआ।
ना ओहु बिनसै ना हम कड़िआ।
ना ओहु निरधनु ना हम भूखे।
ना ओसु दूखु न हम कउ दूखे। १
अवरु न कोऊ मारनवारा।
जीअउ हमारा जीउ देनहारा। १ रहाउ
ना उसु बंधन ना हम बाधे
ना उसु धंधा ना हम धाधे।
ना उसु मैलु न हम कउ मैला।
उसु अंनदु त हम सद केला। २
ना उसु सोचु न हम कउ सोचा।
ना उसु लेपु न हम कउ पोचा।
ना उसु भूख न हम कउ त्रिसना।
जा उहु निरमलु तां हम जचना। ३
हम किछु नाही एकै ओही।
आगै पाछै एको सोई।
नानक गुरि खोए भ्रम भंगा।
हम ओइ मिलि होए इक रंगा। (४ : ३२ : ८३, राग आसा म० १, आ० ग्रं०, पृ० ३९१)

सार यह कि गुरमत द्वारा अवलोकित मानव-नियति का अनुभव परम-सत्य तथा पूर्ण ईश्वरत्व के मनन और प्रशस्ति से सम्भव है। पूर्ण का मनन और प्रशस्ति मनुष्य को पूर्णता के प्रति संक्रमित करते हैं और पूर्णता आदर्श नियति को परमानन्द की प्रेरणा देती है। गुरमत परम तथा सत्य के मनन और प्रशस्ति का पथ निश्चित करता है; उसके सम्मुख मनुष्य की उन्नति के लिए तीर्थ, दान, तप, आत्म-बलिदान एवं धर्म-ग्रंथों के सस्वर पाठ अथवा किसी नाम या जन्तर के

जाप आदि के परम्परित मार्ग अनावश्यक तथा अनेक निहित स्वार्थों के कारण निर्मूल हैं। उसको वहाँ ले जाने वाला मार्ग अर्थात् गुरमत नाम की साधना (ध्यान) को कहते हैं। मनुष्य गुरमत के इसी मार्ग से श्रेष्ठता लाभकर नियति का जानकार बनता है। यह पूर्ण-तत्त्व एवं सत्य के मनन और प्रशस्ति का मार्ग है। वह मनुष्य को भी पूर्ण तथा सत्य बनाता है। गुरु नानक ने मनन एवं प्रशस्ति का वर्णन निम्नानुसार किया है—

सचु ता परु जाणीऐ जा रि दै सचा होइ।
कूड़ की मलु उतरै तनु करे हछा धोइ।
सचु ता परु जाणीऐ जा सचि धरे पिआरु।
नाउ सुणि मनु रहसीऐ ता पाए मोख दुआरु।
सचु ता परु जाणीऐ जा जुगति जाणै जीउ।
धरती काइआ साधि कै विचि देइ करता बीउ।
सचु ता परु जाणीऐ जा सिख सची लेइ।
दइआ जाणै जीअ की किछु पुंनु दानु करेइ।
सच ता परु जाणीऐ जा आतम तीरथि करे निवासु।
सति गुरु नो पुछि कै बहि रहै करे निवासु।
सचु सभना होइ दारू पाप कढै धोइ।
नानकु वखाणै बेनती जिन सचु पलै होइ।

(श्लोक म० १, वार आसा, आदि ग्रंथ, पृ० ४६८।)

नाम की साधना मनुष्य को दिव्यता और सत्यता प्रदान करती है। किन्तु परम सत्य अथवा पूर्ण तत्त्व का लगाव मनुष्य की विशिष्ट स्थिति है, किसी संज्ञा अथवा गुण की यान्त्रिक पुनरावृत्ति नहीं। मिथ्यात्व धुलना तथा हृदय में सत्यता का विकास होना अनिवार्य है। ऐसा तभी सम्भव होता है, जब मनुष्य सत्य के प्रति प्रेम में लीन हो जाता है तथा उसकी सर्वत्र उपस्थिति को महसूस करने लगता है, जब उसके अन्तर में ईश्वरीय चेतना सजग होती है, जब कोई पूर्ण गुरु उसके समस्त मानसिक अन्धकार को दूर कर देता है, जब मनुष्य सेवा-मग्न हो दूसरों के लिए जीता है, जब वह आत्मान्वेषण एवं विश्लेषण करता है, तथा जब वह अस्थिरता को त्यागकर दृढ़ता को अपना लेता है। ज्योति-पथ आत्मा के लिए प्रबोधन का पथ है। सरदार कपूरसिंह के अनुसार नाम-साधना में अनासक्त कर्म, जिसे हिन्दू-चिन्तन में कर्म-योग कहा गया है, भक्ति एवं ज्ञान, तीनों का समावेश है। गुरमतानुसार परमात्मा से प्रेम तथा भक्ति ही दूसरे दोनों योगों का आधार हैं।

अतः, गुरमत मानव-नियति को पूर्णता तक पहुँचाने के लिए आत्मोन्नति को लक्षित करता है। सिद्धान्ततः इसकी प्रक्रिया सरल है तथा इसके मूलाधार में

मनोवैज्ञानिक विधान सुस्पष्ट एवं सत्य है। आत्म-लब्ध (आत्मोन्नत) व्यक्ति अपने अनुकरणीय परम तथा यथार्थ की ही भाँति पूर्ण है। इस आत्मोपलब्ध जीव को अनेक विभिन्न नामों से स्मरण किया जाता है, यथा—सचियार (सत्याचरण करने वाला), सिख (साधक), सन्त (पहुँचा हुआ जीव), भक्त (प्रेमल जीव), ब्रह्म-ज्ञानी (परम-चेतन), मुक्त (निर्वाण-लब्ध), तथा अन्तिम संदर्भ में खालसा (पावन आत्मा)। गुरमत किसी नए मार्ग का प्रणयन नहीं करता वरन् प्रत्यक्ष तथा बाहरी रूप में भिन्न किन्तु वास्तव में समानता लिए हुए जुदा-जुदा ज्योति-मार्गों द्वारा प्रस्तुत मानव-नियति के अवलोकन को साकार करता है। आर्य, बुद्ध, जीव, सिद्ध, ईसाई, मुस्लिम तथा खालसा आदि शब्द उसी आदर्श या दिव्य मानव के गुण हैं।

एक बात ध्यान देने की और है। गुरमत असांसारिक तथा परा-मानुषिक नहीं। यह मानव को इसी लोक में अहम्-जगत से ईश्वरीय अथवा पूर्णता के जगत में बदलकर पीड़ा से मुक्त करने पर बल देता है। यहाँ पुनः गुरमत बड़ा आशावादी है तथा सौन्दर्य की प्रभावोत्पादकता में मनोवैज्ञानिक स्तर पर विश्वास रखता है। सत्य तथा पूर्णता को ग्रहण करने वाला आदर्श व्यक्ति अपने सम्पर्क में आने वाले सब लोगों को प्रभावित करता है, और अन्ततः समूचे मानव समाज को आदर्शवाद, सौन्दर्य, सत्य तथा पूर्णता से भर देता है। इस प्रकार समस्त समाज आनन्दपूर्ण जीवन लाभ करता है। गुरमत का विश्वासु गुरमुख अथवा गुरसिख कहलाता है, तथा न केवल वह स्वयं अहम्-जगत और अग्नि-सिंधु या अनन्य पीड़ा से पार हो जाता है, बल्कि अन्य लोगों को भी सुन्दर आदर्शों द्वारा प्रभावित कर आगे बढ़ने में सहायक सिद्ध होता है—"उसकी (परमात्मा की) आज्ञा का पालन करने से गुरु सुरक्षित होता तथा अपने शिष्यों की रक्षा करता है।" उसके साथ अनेकों का उद्धार हो जाता है। अतः, गुरुमत सम्पूर्ण मानव समाज के आध्यात्मिक शिक्षण को लक्ष्य करता तथा उसकी नियति को पुनरुद्दीप्त करना चाहता है। सिख या गुरमुख परमात्मा स्वामी की विजय के लिए लड़ने वाला सन्त-सिपाही होता है। परमात्मा की विजय से इसी संसार में स्वर्गिक साम्राज्य स्थापित होता है।

गुरमत का केन्द्र नाम तथा सत्ता के चिन्तन एवं मनन में है। उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि नाम-साधना बड़ी सार-गर्भित वस्तु है और इसमें निम्न तत्त्व निहित हैं—

(१) गुरु की कृपा, जो ज्योति-पथ दिखलाता और ध्यान मनन को प्रेरित करता है।

(२) गुरु से साक्षात् होना अपने में परम-सत्ता की कृपा का ही सूचक है। व्यक्ति के द्वारा की गई समस्त आध्यात्मिक उन्नति में परम की कृपा

का आश्रय लिए रहता है। मनुष्य की मुक्ति उसके गुरु का परि-णाम है। गुरु के कृपा से मनुष्य का निर्माण होता है तथा गुरु मुक्ति का साधन बनता है। किसी भी अवस्था पर गुरु उपेक्षणीय नहीं।

(३) सन्त, भक्त व पवित्र लोग जिन्होंने आध्यात्मिक पद प्राप्त कर लिया है वे ही मार्ग दर्शक होते हैं, गुरमत में विशेष स्थान रखते हैं, क्योंकि वे ज्ञानवान् बनकर दूसरों को भी सिखाने में समर्थ हैं। उनकी सेवा तथा उनसे सत्संग की जानी चाहिए।

(४) गुरमत के सेवकों को उन पवित्र सभाओं में, जहाँ प्रभु का गुणगान होता हो, अवश्य जाना चाहिए। सामूहिक पावनता आदर्श मानवता की द्योतक होती है तथा यह पवित्रता दूसरों को भी ऐसे ही सद्गुणों से अनुप्राणित करती है।

(५) परमात्मा, गुरु, पवित्र लोगों तथा मानवता की सेवा द्वारा मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति में वृद्धि होती है। सिक्ख गुरुओं ने अपनी निस्स्वार्थ सेवा के बल पर ही गुरु-गद्दी प्राप्त की थी। नाम का भजन ही परमात्मा की सेवा है; गुरु के आदेशों का पालन ही गुरु-सेवा है; पवित्रात्माओं के लिए सब प्रकार के कार्य करने तथा अपने अर्जित धन में से कुछ निर्धन लोगों को देने में ही उनकी सेवा है। गुरमत में आध्यात्मिक उन्नति के लिए उपर्युक्त सब प्रकार की सेवा अनिवार्य है।

(६) गुरमत मन, वचन, कर्म तथा इच्छा की समस्त शक्तियों में समा-धान, संयम, उदात्तीकरण तथा सन्तुलन का पक्षपाती है। वासनाओं का यदि अन्त सम्भव नहीं, तो उनका परिष्कार तो होना ही चाहिए।

(७) क्योंकि सर्वांगीण उन्नति ईश्वर-कृपा की प्रत्यक्ष उपलब्धि है, इसलिये गुरमत निरन्तर उसकी कृपा प्राप्त्यर्थ विनति करने का विधान रखता है। यद्यपि अन्ततोगत्वा यह सत्य है कि स्वयं ईश्वर ही मनुष्य को उन्नति करने तथा उपर्युक्त छः तत्वों में वर्णोचित विकासों में संलग्न होने की प्रेरणा देता है, तथापि कोई ऐसी वस्तु नहीं जो प्रार्थना के बिना मिल सके, तथा कोई ऐसी बड़ी चीज नहीं, जो प्रार्थना से न मिल सके। वस्तुतः गुरमत के अनुसार परमात्मा स्वयं अन्वेषक है, तथा स्वयं ही अन्वेषित; वह स्वयं गुरु है, और स्वयं ही शिष्य भी है; वह स्वयं प्रार्थना करता है और वही प्रार्थना को सुनता भी है।

गुरदर्शन

गुरु अज्ञेयवादी नहीं थे, परन्तु वे जानते थे कि ऐसे भी अनेक प्रश्न हैं; जिनका उत्तर कभी मानव-बुद्धि से उपलब्ध नहीं हो सकता; ऐसे क्षेत्र भी हैं, जहाँ बुद्धि कोई उड़ान नहीं भरती। अतः उन प्रश्नों के अव्यावहारिक उत्तर खोजना अथवा उनसे सम्बन्धित कतिपय अभिधारणाएं बना लेना व्यर्थ ही है। गुरुओं के लिए मीमांसात्मकता या अभिधारण का कोई अर्थ नहीं था। फिर भी उनका विश्वास था कि साधक परमसत्य के चिन्तन तथा मनन के द्वारा अपने ही भीतर यथार्थ का दर्शन कर सकता है; साधक यथार्थ का अनुभव करने पर भी बौद्धिक अथवा किसी अन्य प्रकार से ईश्वर को समझने में असमर्थ होता है। गुरु ऐसे प्रश्नों का उत्तर खोजने का जोखिम नहीं उठाते : ईश्वर स्वयम्भू कैसे हुआ? सृष्टि कैसे बनी? सृष्टि कब अस्तित्व में आई? आत्मा का स्वरूप या परिमाण क्या है? आदि आदि। वे मानते थे कि आज तक इन प्रश्नों का किसी ने उत्तर नहीं दिया, और न ही कोई ऐसा कर सकेगा। गुरुओं ने ऐसे प्रश्नों की, जिनका उत्तर असम्भव था, मीमांसा की अपेक्षा यथार्थ जीवन पर विशेष बल दिया है।

गुरुओं ने भारतीय दर्शन अथवा पराभौतिक विद्या के कतिपय लोक-जनित सामान्य विश्वासों को स्वीकार किया है। उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि परम-तत्त्व में सत्-चित् और आनन्द के गुण विद्यमान हैं। मानवात्मा भी इसी प्रकार सत्-चित् और आनन्द है। यहां तक कि भूत जगत या प्रकृति भी वही है। वे अद्वैत सिद्धान्त के पोषक थे क्योंकि उनका विश्वास था कि किसी रूप या गुण में द्वैत को स्थान नहीं। उनके लिए जड़ और चेतन, भला और बुरा, विकसित तथा अर्ध-विकसित, मन और आत्मा, आपेक्षिक और परम, सगुण तथा निर्गुण, उच्च और नीच तथा माया और यथार्थ, सब एक हैं और इनमें कोई प्रतिद्वन्द्विता अथवा संघर्ष नहीं। गुरुओं का विचार उत्क्रान्ति को लक्षित करता है, और उनका विश्वास है कि पदार्थ की वर्तमान स्थिति उत्क्रान्ति का ही एक पक्ष है, इसका वास्तविक रूप चेतन है। उनके लिए पदार्थ और चेतन परस्पर परिवर्तनीय हैं। अतः सम्पूर्ण सम्भवन, सत्ता एवं अभिव्यक्ति वास्तविक तथा सत्य है। व्यक्तिगत आत्मा द्वारा परम-सत्ता का अनुभव तथा अवलोकन प्राप्त कर सकने में मुख्य बाधा अहंकार (हउमै) है। वैयक्तिकता अथवा अहं-मन्यता ही आत्मा को कर्मों से बांधती है, जोकि प्रायः स्वार्थपरक तथा इसीलिए मिथ्या और अपूर्ण (जिन्हें बुरे या पापपूर्ण कहा जाता है) होते हैं। इनसे जन्म और मृत्यु का चक्र चलता है, जिसे आवागमन कहते हैं। अहम् भाव सत्य से विलगता का सूचक है, और इस प्रकार द्वैत का उदय होता है। चिन्तन

तथा साधना के द्वारा ही परमसत्य का ज्ञान मिलता है, ज्ञान से आत्मोपलब्धि तथा आत्मोपलब्धि से बंधन या आवागमन से मुक्ति लब्ध होती है। इस बंधन-मुक्ति से आनन्द की वह स्थिति प्राप्त होती है जो कभी व्यक्तिगत आत्मा को प्राप्त थी।

अस्तु:, गुरदर्शन का मूल दार्शनिक सिद्धान्त अद्वैत अथवा एकेश्वर का सिद्धान्त है। सृष्टि-रचना के सम्बन्ध में गुरुओं ने 'शब्द' अथवा 'ध्वनि' से आरम्भ होने तथा तीनों गुणों एवं महाभूतों के अस्तित्व में आने वाले विकास-वाद के सिद्धान्त को निर्देश किया है। रचना की सम्भावना संघटन और विघटन एवं महाभूतों के योग-वियोग के विधान अनुसार स्वीकृत है। किन्तु इस स्थिति में गुरुओं द्वारा मान्य मूल सिद्धान्त यह है कि रचना चाहे विकासोन्मुखी होकर अस्तित्व में आती है, तथापि इसका सृजन ईश्वरेच्छा (हुकम) से तथा इसमें का नैरन्तर्य नियम-बद्ध होता है। वह स्वयं इच्छित, वाञ्छित तथा उद्घोषित करता है। हुकम अथवा विधान से बाहर कुछ भी नहीं; सब इसी में बद्ध है। निर्माण और विनाश, दोनों हुकमाधीन हैं।

ब्रह्मज्ञान अथवा दर्शन से गुरु एक ऐसी मनःस्थिति को लक्षित करते हैं, जो संतुलित होती है, तथा जिसमें मानवीय अनुभवों में का द्वैत लुप्त या शून्यवत् हो जाता है। गुरु अर्जुन ने गुरु-संकल्पना के सच्चे दार्शनिक (गुरमुख) की मनोदशा चित्रित की है—

प्रभु की आगिआ आतम हितावै।
जीवन मुक्ति सोऊ कहावै।
तैसा हरखु तैसा उसु सोगु।
सदा अनंदु वह नही बिओगु।
तैसा सुवरनु तैसी उसु माटी।
तैसा अंम्रितु तैसी बिखु खाटी।
तैसा मानु तैसा अभिमानु।
तैसा रंकु तैसा राजानु।
जो वरताए साई जुगति।
नानक ओहु पुरखु कहीए जीवन मुक्ति। ७।

(गउड़ी सुखमनी म० ५, आ० ग्रं० पृ० २७५)

गुरु अमरदास ने अपनी मर्मग्राही, तीक्ष्ण तथा संवेदनशील धारणाओं से लक्षित किया है कि गुरुओं का दार्शनिक चिन्तन अद्वितीय—अपनी ही प्रकार का विशिष्ट—पुरातन से भिन्न तथा सामान्यतः षट्दर्शन को स्वीकार करने वाला है। उनका मत है कि मात्र गुरु की वाणी ही सत्य है, शेष सब क्षणिक की चर्चा है। केवल गुरु ही मनुष्य को दार्शनिक अथवा ब्रह्मज्ञानी की स्थिति तक ७७

उठा सकता है।

गुरु का मूल मत प्रायः 'मूलमन्त्र' कहलाने वाले पद में संकलित है; यह निम्नानुसार है—

१ ओंकार, सतिनामु, करता पुरख, निरभउ, निरवैरु
अकाल मूरति अजूनी सैभं गुर प्रसादि।

इस मन्त्र के सात पक्ष हैं, जोकि सातों दार्शनिक अथवा ब्रह्मज्ञानी के जीवन-पहलुओं का निर्देश करते हैं। दार्शनिक के जीवन के सात पहलू ये हैं—

१. ऐक्य—संघटन	(१ ओंकार)
२. सत्य	(सतिनाम)
३. सर्जन	(करता-पुरख)
४. समानता	(निर्भय-निर्वैर)
५. सौंदर्य	(अकाल-मूरति)
६. स्वातन्त्र्य	(अजूनी, सैभं)
७. संस्कार	(गुर प्रसादि)

ये सातों जीवन-मूल्य दार्शनिक को प्रिय होते हैं, और वह जीवन में इनकी उन्नति के प्रयत्न करता रहता है।

(१) दार्शनिक अपने दृष्टिकोण को अद्वैतिक-वृत्ति में ढालता है। वह न केवल चित् और पदार्थ तथा शुभ-अशुभ के द्वैत को ही अस्वीकार करता है, बल्कि उसके लिए मनुष्य और मनुष्य, धारणा और धारणा, देश और देश, संस्कृति और संस्कृति, वर्ण और वर्ण, वर्ग और वर्ग आदि में भी कोई संकीर्णता नहीं होती। उसके सम्मुख जाति, वर्ण या वर्ग भेद से इतर सब मनुष्य समान होते हैं—वे दिव्य-ज्योति अथवा परम सत्य की अभिव्यक्ति हैं। ऐक्य बल्कि परमैक्य ही गुरदर्शन का प्रथम पक्ष है।

(२) दार्शनिक मन, वचन और कर्म से सत्य-व्यवहारी होता है, क्योंकि वह मानता है कि ईश्वर अपनी सब स्थितियों और प्रसरणों में सत्य है। सत्य-आचरण ही दार्शनिक का जीवन-पथ होता है। गुरदर्शन के अन्तर्गत सत्य एक समृद्ध जीवन-मूल्य है।

(३) जीवन के समस्त पहलुओं तथा क्रमों में दार्शनिक का उपगमन मन, वचन, कर्म से विघटनात्मक न होकर सदैव रचनात्मक होता है। वह उच्च से उच्चतर आदर्शों का चिन्तन करता है। वह जीवों तथा सर्जित तत्त्वों को कभी हानि नहीं पहुँचाता, वरन् इनके विकास में सहायक होता है। वह उत्पादक, गुणग्राही तथा आदर्शवादी होता है। अतः, सर्जन गुरु-दर्शन का एक विशिष्ट पक्ष है।

(४) उसके लिए सब लोग समान हैं; हर्ष-शोक के समस्त अनुभवों को वह बराबर मानता है। वह सबका आदर करता एवं सबके द्वारा समादृत होने की आशा रखता है। वह किसी को आतंकित नहीं करता, और न ही किसी से आतंकित होता है।

(५) गुरु-अवधारणा का दार्शनिक सदैव अमर, शाश्वत सौन्दर्य की अपेक्षा करता है। दार्शनिक द्वारा संकल्पित सौन्दर्य त्वचा में न होकर मन और आत्मा में निवसित होता है। यह सौंदर्य व्यवहार तथा वृत्तियों में, सुसंस्कृत तथा संघटित व्यक्तित्व में और मनुष्य के अवलोकन तथा आदर्शों में रहता है।

(६) दार्शनिक किसी व्यक्ति-विशेष, मत, वेश-भूषा, रिवाजों, अनुष्ठानों अथवा रीतियों का दास नहीं होता। वह अपने से बाहर किसी पर आश्रित नहीं होता। उसकी निजी उपलब्धियाँ, सन्तुलन, उत्कृष्ट गुण, मौलिक सद्‌गुण आदि ही उसके जीवनाधार होते हैं।

(७) दार्शनिक प्रकार-भेद का ज्ञान तो रखता है, किन्तु वह सबके प्रति धृतिशील, सहानुभूतिपूर्ण तथा विनम्र होता है। वह कृपालु, प्रियम्वद, सुसंस्कृत तथा संतुलित होता है।

उपर्युक्त सातों मूल्य सांसारिक अथवा गृहस्थ जीवन में कर्म के आदर्शवादी पहलू हैं। वे मोक्ष-लक्षी विशुद्ध कर्म के पहलू हैं। यही पूर्णता की स्थिति है। अतः, भक्ति, ज्ञान और कर्म से ही पूर्णता की प्राप्ति तथा अनुभूति सम्भव होती है।

गुरदर्शन अद्वितीय है। इसकी विलक्षणता चिन्तन, मत, मीमांसा अथवा अभिधारणा आदि की अपेक्षा स्वयं चिन्तक पर बल देने में है, जिसका निकष उसके कर्म होते हैं। गुरुओं ने ऐसे चिन्तक को गुरमुख, ब्रह्मज्ञानी, साधु अथवा सन्त कहा है। अन्ततः, खालसा सच्चा दार्शनिक (चिन्तक) होता है।

खालसा

गुरमत सामूहिक मोक्ष या मानवीय अस्तित्व को श्रेष्ठतर बनाने में विश्वास रखता है। पंजाब के सिख गुरुओं ने एक ऐसा समाज या संस्था बनाई, जो गुरु नानक (१४६९-१५३९ ई० तक) से गुरु गोविन्द सिंह (१६६६-१७०८ ई० तक) तक लगभग २०० वर्ष तक निरन्तर प्रशिक्षण, पथ-प्रदर्शन तथा निरीक्षण में पनपती रही और अन्ततः खालसा कहलाई। खालसा संगठन ही गुरमत तथा गुरदर्शन की पराकाष्ठा है। यह दार्शनिकों, ब्रह्मज्ञानियों, गुरमुखों या सिखों के सम्मिलन से बना मनुष्यता का एक आदर्श समाज है। यह सिंहों—

आत्माओं—का समाज है, जो कि मानवता के संरक्षक हैं, ताकि संसार को स्वर्गिक प्रशासन में विकसित किया जा सके। यह सन्त-सिपाहियों, शस्त्रधारी सरदारों का ऐसा दल है जो आह्वान किए जाने पर सदैव किसी निस्स्वार्थ कर्म के लिए तैयार रहते हैं। ये सन्त-सिपाही अकल्याण, अधर्म, अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करते हैं, तथा धर्म की पुनर्स्थापना और शक्ति के उपयुक्त समायोजन हेतु सयत्न हैं। अर्थात्, वे परमात्मा की विजय का आह्वान करते हैं।

आदर्श मनुष्य की कल्पना के विकास में होने वाले धार्मिक प्रयोगों के इतिहास में खालसा की स्थिति उच्चतम तथा उत्तमोत्तम है। केसगढ़ का प्रयोग (खालसा-निर्माण का) अपने से पूर्व की विभिन्न परिस्थितियों, युगों और देशों की सीमाओं में हुए ऐसे ही अन्य प्रयोगों का अवमूल्यन नहीं करता। आदर्श मनुष्य तथा आदर्श समाज के विकास में हिन्दुत्व, बौद्ध, जैन, ईसाई, इस्लाम आदि प्रयोग तथा कंफ्यूशियस, सुकात, अफ्लातून सरीखे चिन्तक अपना-अपना स्थान तथा उपादेयता रखते हैं। खालसा संगठन, सत्य, सर्जन, समानता, सौंदर्य, स्वातन्त्र्य तथा संस्कार का प्रतीक है। यदि इन मूल्यों एवं सद्‌गुणों को जीवन में ढाला जाय तो आदर्श मानव समाज का उदय होता है। यही आदर्श समाज गुरमत और गुरदर्शन का लक्ष्य है।

खालसा समाज का भी निस्सन्देह एक निजी विधान है, अनुशासन-नियम, रूप, वेश-भूषा, चिह्न लक्षण आदि भी हैं, क्योंकि समाज को संघटित रखने के लिए ऐसे तत्त्व अनिवार्य होते हैं। कदाचित्, इन चिह्नों अथवा सामाजिक बंधनों का स्वरूप पूर्णतः आध्यात्मिक है और वे विकास के मान पर अत्यन्त आदर्श रूपों का प्रतिनिधित्व करते हैं। तथा परम सुविकसित समाजों में भी ऐसे सामाजिक बंधनों का अपरिहार्य होना अविवाद है।

निष्कर्ष

गुरु ग्रंथ साहिब के सम्बन्ध में प्रायः आपत्ति उठाई जाती है कि उसमें पुनरावृत्ति अधिक है—किन्तु इससे उसका मूल्य घटने की अपेक्षा बढ़ता है। स्वर्गीय प्रोफेसर पूरनसिंह इस सम्बन्ध में सागर की सादृश्यता प्रस्तुत किया करते थे, जिसकी विशालता उसके सौंदर्य को घटाने की अपेक्षा बढ़ाती है, और इसके जल को, चाहे कहीं से भी लेकर देखें, एक समान स्वाद प्रदान करती है। यह सत्य है कि गुरु ग्रंथ में गुरमत के दो मूल सिद्धान्तों का अत्यधिक पुनरावर्त्तन हुआ है। गुरु ग्रंथ को स्वरूप देने वाले 'मूलमन्त्र' की विभिन्न व्याख्याओं के अतिरिक्त ग्रंथ में स्वयं 'मूलमन्त्र' की छः सौ से भी कुछ अधिक बार पुनरावृत्ति हुई है। और सम्भवतः ग्रंथ में कोई ऐसा पद नहीं, जिसमें नामाभ्यास अथवा परम सत्ता,